सृष्टि का सिरमौर

- योग तथा धर्म का तुलनात्मक अध्ययन

भाग-1

कृपाल सिंह

समर्पण

समर्पित है सर्वशक्तिमान परमात्मा को,
जो सभी पूर्ववर्ती संत–महापुरुषों के रूप
में कार्य करता रहा है तथा परम संत
हुज़ूर बाबा सावनसिंह जी महाराज को,
जिनके पावन चरणों में बैठकर लेखक
ने पवित्र नाम–शब्द का परम–मधुर
अमृत–रस–पान किया।

प्राक्कथन

योग *के इस तुलनात्मक अध्ययन की शुरूआत पश्चिम के जिज्ञासुओं एवं शिष्यों के द्वारा इस विषय पर लगातार पूछे जाने वाले प्रश्नों के कारण हुई। परन्तु, उनको एक प्रणालीबद्ध एवं विस्तृत तरीक़े से उत्तर उपलब्ध कराने के प्रयास में यह पुस्तक अपने सोचे गये मूल रूप से काफ़ी बड़ी हो गई है। परन्तु, मैं आशा करता हूँ कि अपने वर्तमान स्वरूप में अब यह न केवल उन प्रारम्भिक प्रश्नकर्ताओं के लिये ही उपयोगी होगी, बल्कि आमतौर पर उन सभी जिज्ञासुओं के लिये भी लाभदायक होगी, जो यह जानना चाहते हैं कि योग क्या है, इसके कितने प्रकार हैं तथा उनकी विधियाँ तथा आध्यात्मिक क्षमतायें क्या हैं।*

प्रकाशन के इस युग में, योग के विषय पर पुस्तकों की कोई कमी नहीं है। परन्तु, यदि हम सावधानीपूर्वक उनकी समीक्षा करें, तो हम पायेंगे कि उनमें से अधिकतर किसी एक या दूसरी दिशा में सीमित रह जाती हैं। वे योग को या तो प्रमुखतया आसनों व शारीरिक व्यायाम की पद्धति मानती हैं या फिर एक अत्यन्त गूढ़ (abstract) तथा एकत्ववादी (monistic) विचार पद्धति मानती हैं, जिसमें सम्पूर्ण जीवन की एकता तथा जीवात्मा और परमात्मा की मूलभूत एकरूपता का बोध कराया जाता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में, हमें योग के बारे में जो बोध प्राप्त होता है, वह अधूरा होता है, क्योंकि ऐसी विचारधारा योग को आध्यात्मिक उत्थान करने तथा परमात्मा में एकमेक हो जाने की एक व्यावहारिक विधि से घटाकर एक शारीरिक पोषण या फिर दर्शनशास्त्र की एक विचारधारा (या विचार-धाराओं) तक सीमित कर देती है।

इस प्रकार की त्रुटि की संभावना से बचने के उद्देश्य से, इस अध्ययन में सभी विवेचनों का केन्द्र-बिन्दु, सभी योगों के अंतिम ध्येय– परमात्मा से एकाकार होने को ही रखा गया है। योग की सभी महत्त्वपूर्ण प्राचीन व आधुनिक विधाओं को बारी-बारी से लिया गया है, उनकी क्रिया-विधियों का

वर्णन तथा विवेचन किया गया है, तथा उनमें से प्रत्येक हमें चरम लक्ष्य की ओर किस हद तक ले जा सकता है, इसका मूल्यांकन किया गया है। यही अन्तिम विषय ही शायद योग-सम्बंधी तुलनात्मक अध्ययन का सबसे अधिक ग़लतफ़हमी का तथा भ्रामक पक्ष रहा है। रूहानी अनुभवों का ऐसा गुण ही है कि जब आत्मा, निचले मंडलों से, जिनकी वह अभ्यस्त होती है (बिना किसी उच्चतर मार्गदर्शन के), अगले मंडल में पहुँचती है, वह अपने से उच्चतर मंडल को ही ग़लतफ़हमी से सर्वोच्च व परिपूर्ण मंज़िल मान बैठती है। इस तरह हम पाते हैं कि अधिकांश योग-विधियाँ, जब हमें आंतरिक आध्यात्मिक यात्रा में किसी निश्चित बिन्दु तक ले जाती हैं, तो उसे ग़लती से अंतिम ध्येय मानकर अपने आपको परिपूर्ण समझ लेती हैं।

इस प्रकार, मौजूदा भ्रम की अवस्था से बचने के लिये और योग की प्रत्येक विद्या के तुलनात्मक आध्यात्मिक महत्त्व का मूल्यांकन करने के लिये एकमात्र रास्ता यही है कि हम योग के सर्वोच्च स्वरूप के मानक को ही अपनायें, जिसकी क्षमता सम्पूर्ण हो, न कि मात्र सापेक्ष। यह मानक 'सुरत-शब्द योग' में उपलब्ध है, जिसे 'संत-मत' (संतों-महापुरुषों का मार्ग) भी कहते हैं, जो वास्तव में 'सृष्टि का सिरमौर' या 'अशरफ़-उल-मख़्लूक़ात' ('The Crown of Life') है। इस मत के महापुरुष उचित माग. दर्शन में इसका अभ्यास करते हुए, उन आंतरिक मंडलों तक पहुँचे हैं, जो अन्य योग-विधाओं की जानकारी में नहीं है और अंततः, परमात्मा के परिपूर्ण निराकार व अनामी स्वरूप में लीन हुए हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने बारम्बार इस शब्द-योग की अतुलनीय श्रेष्ठता को स्वीकारा है तथा अपने अनुभवों के आधार पर अन्य योग-विधाओं के प्रत्यक्ष आंतरिक आध्यात्मिक पहुँच की चर्चा करते हुए 'सुरत-शब्द योग' की परिपूर्ण प्रकृति का विस्तृत वर्णन किया है।

जिज्ञासु, यदि एक बार अन्य योग-विधाओं के साथ संत-मत के तुलनात्मक अध्ययन के विषय को समझना प्रारम्भ कर सके, तो मुझे विश्वास है कि उसके लिये यह कठिन विषय धीरे-धीरे आसान स्पष्टतर होता चला जायेगा। वह देखेगा कि रूहानी विद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ करने पर अधिकांश लोगों को जिन विरोधाभासों का सामना करना पड़ता है, वे रूहानी अनुभव के लिये अनिवार्यिक नहीं हैं, बल्कि ऐसा सापेक्षिक

सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने के परिणामस्वरूप होता है। यह भ्रम उनके लिये विद्यमान नहीं रहता, जिन्होंने उच्चतम मार्ग का अनुसरण करके सभी आंतरिक रूहानी मंडलों निजी अनुभव कर लिया है तथा यह जान लिया है कि विभिन्न योग-विधाओं में से प्रत्येक हमें किस हद तक ले जा सकती है। अध्यात्म के विषय को वह फिर यह सोचकर टालना नहीं चाहेगा कि यह महज़ एक पुरातन अंध-विश्वास तथा काला-जादू है, अपितु वह इसे एक काल की सीमा से अतीत आंतरिक विज्ञान की भाँति जानना प्रारम्भ कर देगा, जिसके अपने अपरिवर्तनशील नियम एवं विभिन्न तरीक़े हैं; जिसका ज्ञान गतिहीन नहीं है, बल्कि जिसका विकास मनुष्य के निचले से उच्चतर योगों की ओर आगे बढ़ने के साथ-साथ हुआ है। इन सबसे बढ़कर, मुझे उम्मीद है कि वह यह समझ सकेगा कि उस परिपूर्ण परमात्मा में जीवात्मा का लीन होना केवलमात्र कोई दिवास्वप्न या एकत्ववाद दर्शन की काल्पनिक मान्यता ही नहीं है, बल्कि एक ऐसी जीती-जागती संभावना है, जिसका अनुभव-साक्षात्कार ही मानव जीवन का सच्चा अंतिम ध्येय है तथा जिसकी प्राप्ति सही मार्गदर्शन, सही विधि एवं सही प्रयास के द्वारा, प्रत्येक इन्सान की पहुँच के भीतर है– चाहे वह किसी भी उम्र, लिंग, जाति या धर्म का क्यों न हो।

– कृपाल सिंह

सावन-आश्रम, दिल्ली
6 *जून*,1961

विषय-सूची

प्रथम भाग

यौगिक पद्धतियाँ

द्वितीय भाग

सुरत-शब्द योग का अध्ययन

तालिकाएँ

प्रथम भाग

यौगिक पद्धतियाँ

प्रथम अध्याय

योग – एक परिचय

प्रत्येक देश और काल में मानव समाज के सभी महान आचार्यों– जैसे वैदिक ऋषियों, ज़रतुश्तु, भगवान महावीर, भगवान बुद्ध, ईसा मसीह, हज़रत मुहम्मद, गुरु नानक, संत कबीर, बाबा फ़रीद, हज़रत बाहू, शम्स तबरेज़, मौलाना रूमी, तुलसी साहब, स्वामी जी तथा अन्यों ने संसार को एक ही साधना अथवा आध्यात्मिक विद्या की शिक्षा दी। चूंकि प्रभु एक हैं, इसलिये, प्रभु-प्राप्ति का मार्ग भी एक ही है। सच्चा धर्म अर्थात् प्रभु की ओर लौटने का मार्ग भी प्रभु द्वारा स्वयं ही बनाया गया है। अतः यह सबसे पुरातन तथा सहज स्वाभाविक मार्ग है, जिसमें कोई आडम्बर या बनावट नहीं है। व्यवाहारिक रूप से इस पद्धति में एक ऐसे आचार्य या गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है, जोकि उस विद्या के सिद्धांत और अभ्यास– दोनों पक्षों का माहिर हो, जिसे 'परा-विद्या' कहते हैं, क्योंकि यह बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों की पहुँच से बाहर है। जहाँ पहुँच कर दुनिया के समस्त दर्शन-शास्त्र समाप्त हो जाते हैं, वहीं से सही मा'नो में सच्चे धर्म की शुरूआत होती है। धर्म-ग्रंथ हमें उस मार्ग के बारे में कुछ हद तक ही जानकारी देते हैं, जहाँ तक उसे अपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु, वे न तो हमें उस मार्ग तक ले जा सकते हैं और न ही उस पथ पर हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं।

अध्यात्म का मार्ग मुख्यतः एक प्रायौगिक मार्ग है। यह आत्मा मात्र ही है, जो देह तथा व्यक्तित्व के बन्धन से उन्मुक्त होकर रूहानी सफ़र कर सकती है। इसके पहले कि यह उच्चतर चेतना या ब्रह्मांडीय और उस से भी परे की चेतना के मंडलों में उड़ान भर सके, मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप अर्थात् मनुष्य की आत्मा को पहले देहाभास से ऊपर उठना होगा। यह सब कुछ किसी पूर्ण सत्गुरु की कृपा से 'सुरत-शब्द योग' के द्वारा अर्थात्

मनुष्य की अन्तरात्मा ('सुरत' अथवा चेतना) का 'शब्द' अथवा 'अनहद नाद' की धारा से जुड़ जाने पर ही सम्भव हो सकता है।

पुरातन काल से लेकर वर्तमान काल तक के संतों-महापुरुषों की शिक्षाओं को स्पष्ट रूप से समझ पाने के लिये यह उपयुक्त होगा कि हम 'सुरत-शब्द योग' के स्वरूप और विस्तार का अध्ययन प्राचीन महापुरुषों द्वारा प्रदत्त विभिन्न यौगिक पद्धतियों तथा शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के सिद्धांतों के सम्बंध में करें।

'योग' शब्द संस्कृत धातु, 'युज्' से बना है, जिसका अर्थ है– मिलना, संयुक्त होना, विलीन होना, निराकार होना, साररूप होना, अनुभव को प्राप्त करना, तल्लीन होना अथवा उच्चतम स्तर का तत्वमीमांसिक (metaphysical) चिन्तन, जो आत्मा और परमात्मा ('जीवात्मा' और 'ब्रह्म') के मिलाप का मार्ग प्रशस्त करता है। योग-पद्धति के विख्यात जनक, महर्षि पतंजलि ने अपने पूर्ववर्ती गौड़पादाचार्य के ही अनुरूप, 'योग' को चित्त की उन वृत्तियों अथवा मन में सतत् उठने वाले उन संकल्प-विकल्प आदि के निषेध के रूप में किया है, जो तरंगों की भाँति चित्त में उठते रहते हैं। वे इसे चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात् वृत्तियों का दमन कहते हैं यानी मन को मानसिक तरंगों से रिक्त करना। महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार 'योग' का अर्थ है- एक आत्मा विशेष का ईश्वर या ब्रह्म से एकमेक हो जाना। योगियों के अनुसार आत्मा के शारीरिक रूप में उसके ऊपर मन माया के चढ़े हुए अनेक पर्दों को उतार कर उनसे अलग करना ही योग है। 'संत-मत' अर्थात् पूर्ण सत्गुरुओं का मार्ग, योग के इन उद्देश्यों में से किसी को भी नहीं नकारता, बल्कि उपर्युक्त सभी तथ्यों का पूरा-पूरा समर्थन करता है तथा इसके लक्ष्यों तथा उद्देश्यों से भी कुछ हद तक सहमत है, परन्तु, इनको अधिक से अधिक लक्ष्य की ओर दिशा-निर्देशक मात्र ही मानता है। यह वहाँ विश्राम नहीं करता, बल्कि इस से भी आगे जाकर हमें संसार की प्रचंड भूल-भुलैया से 'बाहर निकलने' का और परम् पिता परमात्मा के अलौकिक धाम में 'प्रवेश करने' का रास्ता भी दर्शाता है। यह हमें उस आध्यात्मिक यात्रा की जानकारी देता है, जिसको तय करके आत्मा मृत्यु से अमरत्व ('फ़ना' से 'बक़ा') को प्राप्त करती है, जिसके लिये पहले नियमित रूप से आत्म-विश्लेषण के द्वारा फैली हुई चेतना

('सुरत') की धाराओं को देहाध्यास से वापस खींच कर रूह के ठिकाने पर अर्थात् भ्रू-मध्य ('तीसरे तिल') पर केन्द्रित करने के नियमित अभ्यास द्वारा देहाभास से ऊपर उठना होता है। फिर आत्मा 'बंक-नाल' (जोकि उल्टी तरफ़ मुड़ी हुई एक नली के आकार का रास्ता है) से गुज़र कर उसके परे के मध्यवर्ती केन्द्रों को पार करते हुए अन्ततः अपने चरम् लक्ष्य को प्राप्त कर अपने स्रोत में पहुँचकर उससे एकीकृत हो जाती है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि आत्मा और परमात्मा की एकमेकता की क्या आवश्यकता है, जबकि दोनों वास्तव में एक ही तत्व हैं और पहले से ही एक-दूसरे में अंतःस्थापित हैं। सैद्धांतिक रूप से कहने में तो यह सही है, परन्तु हम में से कितने ऐसे हैं, जिन्हें इस बात का बोध है और जो सचमुच ही इस तथ्य तथा बोध के जीवंत प्रकाश में व्यावहारिक कार्य करते हैं? दूसरी ओर, हम देखते हैं कि आत्मा हमेशा ही मन के पीछे-पीछे चलती है, मन इन्द्रियों के पीछे चलता है, और इन्द्रियाँ विषयों के पीछे। इसके परिणामस्वरूप युग-युगांतर से मन-इन्द्रियों के निरन्तर संपर्क में रहने के कारण आत्मा अपने असली (अखंड, अविभाजित) आपे को बिल्कुल ही भूल चुकी है और यह व्यवहारिक दृष्टिकोण से पूरी तरह से मन का ही रूप बन कर रह गई है। यह अज्ञान का वह परदा है, जो आत्मा और परमात्मा के बीच दीवार बनकर खड़ा हो गया है और जिसे आत्मा को अपने निज-स्वरूप का बोध कराने के लिये हटाना ज़रूरी है, ताकि रूह अपने असली आपे को पहचान सके और फिर अपने निज-धाम को तलाश कर सदा-सदा के लिये शाश्वत जीवन को पा जाये। दुनिया के तमाम धर्म शुरू में इन्सान द्वारा केवल इसी उद्देश्य के लिये बनाये गये थे, लेकिन दुर्भाग्य से समय बीतने के साथ-साथ इन्सान धीरे-धीरे सच्चाई से दूर भटकता चला जाता है और अपने ही द्वारा बनाये गये तौर-तरीक़ों और मज़हबों का दास हो जाता है। धर्म, अपने संस्थापकों के जीवित संपर्क एवं जीवंत प्रेरणा के अभाव में, मात्र गिरजों और मन्दिरों जैसी संस्थाओं तथा नैतिक व सामाजिक व्यवहार की कठोर संहिताओं में बदल कर रह जाता है।

बेन जॉन्सन का कथन है : "अज्ञान के अतिरिक्त मैं आत्मा की किसी अन्य व्याधि को नहीं जानता।" अज्ञान के इस परदे को कैसे हटाया जाये, यही सभी समस्याओं की समस्या है। हमने इसे एक ऐसी अभेद्य

चट्टान के रूप में बनने दिया है, जिसे बारूद से भी उड़ाना सम्भव नहीं है। फिर भी, महापुरुषों ने, इस अभेद्य अज्ञान-रूपी चट्टान को भेदने के लिये कई साधन सुझाये हैं- जैसे ज्ञान-योग, भक्ति-योग तथा कर्म-योग इत्यादि। जैसे किसी अन्धेरे कमरे में एक रोशन मोमबत्ती वहाँ के अन्धेरे को हटा सकती है, वैसे ही ज्ञान-योग द्वारा सच्चे ज्ञान की ज्योति अज्ञान के अन्धकार को मिटाने में सक्षम हो सकती है। भक्ति-योग द्वारा इन्सान घृणा, अलगाव तथा द्वैत की भावना को सब से प्रेमभाव, सभी प्राणियों से एकता और उनके प्रति एकत्व की भावना में बदल कर सार्वभौमिक प्रेम में स्थित कर सकता है। अंततः, कर्म-योग द्वारा इन्सान स्वार्थ, अहंभाव, आत्म-प्रशंसा और आत्मासक्ति की भावना को अपने अन्दर से निकाल सकता है और मानवता के लिये कल्याणकारी कार्यों में प्रवृत्त होकर सब के लिये सहानुभूति और प्रेम की भावना को विकसित कर, समस्त सृष्टि का प्रतिबिंब अपने आत्मारूप में और अपनी आत्मा का प्रतिबिंब सब में देख कर अन्त में 'प्रभु के पैतृत्व' ('Fatherhood of God') और 'इन्सानी भाईचारे' ('Brotherhood of Man') के सिद्धांत का अनुभव प्राप्त कर सकता है। मुख्यतः यह तीन मार्ग हैं या यूँ कहें कि एक ही सम्पूर्ण आचारण के मस्तिष्क, हृदय और हस्त पर आधारित एक ही समेकित मार्ग के तीन पहलू हैं, जिसके द्वारा आत्मा के परमात्मा के साथ मिलन के ध्येय की प्राप्ति की जा सकती है। आसानी से समझने के लिये, संक्षेप में हम इन्हें 'आत्म-ज्ञान', 'आत्म-आहुति' तथा 'आत्म-बलिदान' की प्रक्रिया कह सकते हैं, जो अंततः हमें 'ब्रह्मांडीय चेतना' या इस अनुभूति की ओर ले जाती हैं कि एक ही सर्वव्यापी सत्ता सारे अस्तित्वों का आधारभूत है।

प्रत्येक मार्ग का उद्देश्य एक ही है, और हरेक का लक्ष्य भी एक ही है– भले ही प्रारम्भिक अवस्था में इन में से प्रत्येक द्वैतवादी विचारधारा से शुरू होता है। सभी का प्रारम्भ द्वैत से होता है, परन्तु सबका अंत अद्वैत में ही होता है, और इस के लिये कोई भी मार्ग चुना जा सकता है– आध्यात्मिक ज्ञान का, सार्वभौमिक प्रेम और भक्ति का या मानवता की निस्स्वार्थ सेवा करने का।

रज्जब निशाना एक है, तीरंदाज़ अनेक।

– संत रज्जब

मिसाल के तौर पर, ज्ञान-योग में साधक को, विवेक की क्षमता को विकसित करना होता है, जिससे कि वह 'अज्ञान' और 'ज्ञान' के बीच अर्थात् माया का भ्रामक स्वरूप तथा ब्रह्म की वास्तविकता के बीच भेद करने में सफल हो सके। जब उसे इस सच्चाई का बोध हो जाता है, तो उसे सर्वत्र कुछ और नहीं, बल्कि असीम सार रूप में व्याप्त ब्रह्म की ही झलक मिलती है– जो 'सत्' सभी रूपों और रंगों में व्याप्त है और उनके आकार एवं आकृति का एकमात्र सार है। यही अनुभूति सच्चे ज्ञान तथा ईश्वरीय प्रज्ञा (विवेक) का उदय है।

इसी प्रकार, भक्ति-योग में हम 'भक्त' और 'भगवंत' अर्थात् उपासक और उपास्य के दोहरे सिद्धांत से शुरू करते हैं। धीरे-धीरे उपासक अपने क्षुद्र अहम् को खो देता है और अपने उपास्य को सर्वव्यापी पाने लगता है और उसका आपा इतना विस्तृत हो जाता है कि वह अपने इष्टदेव की भांति सम्पूर्णता को अपने आलिंगन में समेट लेता है। कहा गया है, "जो भी नमक की खान में प्रवेश करता है, धीरे-धीरे नमक ही बन जाता है।" व्यक्ति जैसा सोचता है, वैसा ही बन जाता है।

इसी प्रकार कर्म-योग में शुरू में मनुष्य किसी दवाब के अंतर्गत कर्मक्षेत्र में दाख़िल होता है, परन्तु वक़्त गुज़रने के साथ-साथ उसे निस्स्वार्थ कर्म का महत्त्व पता लगने लगता है। जब कर्म, केवल कर्म करने के उद्देश्य से– कर्मफल में आसक्ति के बिना किए जाते हैं, तो वे बन्धन का कारण नहीं बनते, और धीरे-धीरे स्वभाविक रूप से वह निःकर्म अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्मशून्य हो जाता है यानी एक ऐसे बिन्दु की भांति हो जाता है, जोकि जीवन के सदैव घूमते हुए पहिये के मध्य अचल रहती है। इस प्रकार जब वह अपने अस्तित्व के घेरे की परिधि से उसके केन्द्र में पहुँचता है, तो वह कर्म करने में भी निष्क्रियता प्राप्त कर लेता है और कर्मों के बंधनों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

वृत्तियाँ क्या होती है?

जब आत्मा से उत्पन्न एक धारा किसी बाह्य वस्तु– जैसे कि कोई भौतिक पदार्थ, मनोभाव, विचार या इन्द्रियजन्य अनुभूति- से टकरा कर वापिस अपने उद्गम-स्थान को लौटती है, तो उसे 'वृत्ति' कहा जाता है।

यह वृत्ति चित्त में परिवर्तन पैदा करती है। बाह्य तथा आंतरिक जगत का सब ज्ञान हमें वृत्तियों या विचार-किरणों द्वारा ही प्राप्त होता है। किसी वस्तु से उत्पन्न या उससे परावर्तित प्रकाश की किरण नेत्रों से होती हुई मस्तिष्क तक पहुँचती है और वहाँ विचारों की छाप में बदल कर हमें उस वस्तु का बोध कराती है।

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं :

***1.* प्रमाण** : *निर्मल आत्मा और प्रकृति के बीच सम्बंध को 'प्रमाण' कहते हैं। प्रत्येक अभिव्यक्ति के केन्द्र में निर्मल आत्मा अपना ही तत्व पाती है– कि उससे पृथक् कुछ भी नहीं है।*

***2.* विपर्यय** : *बोध करने वाली आत्मा और प्रकृति के पदार्थों के बीच सम्बंध को 'विपर्यय' कहते हैं। यह किसी अभिव्यक्त रूप को उसी रूप में ग्रहण करती है, परन्तु उस के केन्द्र में एकमात्र तथा सक्रिय जीवन-तत्व के प्रति संशयात्मक रहती है।*

***3.* विकल्प** : *'विकल्प' वह सम्बंध है, जोकि बोध करने वाली आत्मा का पदार्थों (प्रकृति के विषयों) से होता है, जिसके कारण पदार्थों के बारे में, उनके अस्तित्व, उनकी मूलभूत प्रकृति और उनमें निहित जीवन-तत्व के बारे में अविश्वास और भ्रांति पैदा होती है।*

***4.* निद्रा** : *'निद्रा' वह सम्बंध है, जोकि प्राण से ढकी हुई आत्मा का पदार्थों से होता है। इसमें आस-पास के वातावरण के प्रति अनभिज्ञ होते हुए, स्वप्न तथा गहन निद्रा की- दोनों स्थितियों का समावेश है।*

***5.* स्मृति** : *'स्मृति' देहधारी आत्मा का भौतिक मंडल के स्तर पर संसार के पदार्थों के साथ सम्बंध है।*

आत्मा के अपना वास्तविक तथा सार स्वरूप- जो परमात्मा के स्वरूप के अतिरिक्त कुछ और नहीं है- जानने के मार्ग में ये सभी वृत्तियाँ अनेक प्रकार से बाधक बन जाती हैं। कबीर साहिब ने इसीलिये कहा है :

कहु कबीर इहु राम की अंसु।

– आदि ग्रंथ (गोंड कबीर, पृ॰871)

इसी प्रकार मुस्लिम सूफ़ी-संत भी यही भाव व्यक्त करते हैं, जब वे आत्मा को 'अम्र-ए-रब्बी' या 'प्रभु का आदेश' कहते हैं।

अम्र-ए-रब्बी अस्त रूह ओ-सिर्र खुदास्त,
ज़िक्र-बेकाम ओ-बेज़बाँ ऊ रास्त।

— दीवाने–नियाज़ बरेलवी (पृ.90)

(रूह रब्ब का अंश और उसका भेद है, जो बिना तालु और ज़बान के बोलती है।)

यदि चित्त को वृत्तियों से रहित किया जा सके, तो प्रभुत्व के विशुद्ध सार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रह जायेगा। इसीलिये, हम 'योग' के बारे में निम्नलिखित प्रचलित सूक्तियाँ पाते हैं :

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।।

— पतंजलि योगसूत्र

(योग का सारांश है– मन में उठने वाली सभी वृत्तियों का निषेध।)

आत्मा का परमात्मा के साथ एकाकार होना ही योग है।

— याज्ञवल्क्य

आत्मा पर चढ़े हुए आवरणों को हटा कर उसको जीवन के पदार्थों की जकड़न से मुक्त करना योग है।

— मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ

योग के लाभों को प्राप्त करने का सब से सरल, सब से पुरातन तथा सब से स्वाभाविक तरीक़ा है, 'शब्द-योग' या 'सहज-योग', जिसकी शिक्षा कबीर, नानक और उन से पहले और बाद में हुए अन्य महापुरुषों और अनादि काल से सभी संत-सत्गुरुओं ने दी है। जब आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मा, एक-एक करके, अपने अनेक आवरणों को उतार फेंकने में सक्षम हो जाती है, तब वह निर्मल, अपने आप में सम्पूर्ण, चेतन, स्वयंभू और स्वप्रकाशमान बन जाती है– सदा एकरूप और सदा स्वच्छन्द। संतों के अनुसार, आत्मा का 'पवित्र शब्द' (परमात्मा, अभिव्यक्त स्वरूप में) अर्थात् परमात्मा की शक्ति या उसकी आत्मा के साथ मिलाप हो जाना ही 'योग' है, जिसे विभिन्न महापुरुषों ने अपने-अपने समय पर अनेक नामों से निर्दिष्ट किया है– जैसे 'श्रुति', 'स्त्रोशा' ('अहुना वार'), 'कलमा', 'नाम' या 'पवित्र आत्मा'।*

---

* इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या के लिए, कृपया प्रस्तुत लेखक की पुस्तक, *'नाम या शब्द'* देखें।

आत्मा तथा परमात्मा

__1.__ आत्मा ही वास्तविकता है और सार-तत्व है। यह एक (व्यष्टि) है और साथ ही साथ सम्पूर्णता (समष्टि) भी है। एकत्व में सदा अनेकता का भ्रम बना रहता है तथा सम्पूर्णता अपने में अनेक भागों का अस्तित्व व्यक्त करती है। एकता तथा सम्पूर्णता के भाव सदैव साथ-साथ विचरते हैं तथा खंड और समग्र- दोनों की वास्तविक प्रकृति एक ही जैसी होती है।

__2.__ किसी भी वस्तु के सार-तत्व का अपना एक गुण-विशेष होता है, और ये दोनों एक-दूसरे से प्रथक् नहीं किए जा सकते। जिस प्रकार सार एक भी है और अनेक भी, उसी प्रकार गुण-विशेष भी।

__3.__ किसी भी वस्तु का सार-तत्व उसका 'जौहर' है, उसका जीवन-प्राण है। केवल यही वह आद्य-तत्व है, जो हर जगह व्याप्त है और सभी रूपों और वर्णों की सच्चाई भी है। यह क्रियाशील जीवन-तत्व ही सृष्टि का उद्गम स्रोत है, जिसे अलग-अलग नाम दिये जाते हैं : सूक्ष्म जगत में 'प्रकृति', कारण जगत में 'प्रधान' और भौतिक जगत में 'माया' या 'जड़ पदार्थ'।

__4.__ किसी वस्तु का गुण-विशेष उसका अभिन्न अंग है, जिसमें उसकी प्रकृति निहित होती है। प्रकाश का ही उदाहरण लीजिये। क्या प्रकाश की कल्पना सूर्य से पृथक् की जा सकती है, या फिर कांतिमय ओजस्विता एक तेजस्वी, स्वस्थ व्यक्तित्व से? एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है क्योंकि वे अविच्छेद्य और एक-दूसरे में पूर्णतया अन्तःस्थापित हैं।

__5.__ स्वभाव और उसका सार-तत्व– इन दोनों को प्रथक् रूप में समझने की कोई भी चेष्टा– चाहे वह कल्पना मात्र में ही हो, द्वैतभाव को जन्म दिये बिना नहीं रह सकती। इस द्वैतभाव के कारण ही सृष्टि, सृष्टिकर्ता से अलग प्रतीत होती है, और आत्म-सत्ता की दो शक्तियों– 'जड़' (पदार्थ) एवं 'चेतन' (आत्मा) की बाह्य क्रिया का परिणाम प्रतीत होती है। वैज्ञानिक खोजें भी अब इस अकाट्य निष्कर्ष पर पहुच गयी हैं कि समस्त जीवन विभिन्न स्तरों पर विद्यमान एक ही अखंड सत्ता है, और जिसे हम जड़-पदार्थ कहते हैं, वह भी अपनी न्यूनतम अवस्था में स्थित ऊर्जा ही है।

सृष्टि में भी– स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण मंडलों में, ये दोनों मूल सिद्धांत सदा ही कार्यरत रहते हैं : ईश्वर व प्रकृति सूक्ष्म में, ईश्वर व प्रधान

कारण में और जीवात्मा व भौतिक-तत्व भौतिक जगत में। सर्जन प्रक्रिया इन दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव का ही परिणाम है।

6. *इस प्रकार आत्मा ही जीवन-तत्व है तथा प्रत्येक वस्तु में अन्त:निर्हित उसका मूल कारण है, क्योंकि इस के बिना सृष्टि में कोई भी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस के प्रभाव से ही अनुप्राणन होता है और जड़ प्रतीत होने वाले भौतिक तत्व से जुड़ कर यह उसे अपना प्राणदायक संवेग प्रदान करती है। इस आत्मा के स्फूर्तिदायक संवेग की शक्ति और प्रकाश से ही प्रकृति अनेकानेक रूप-रंग धारण करती है, जोकि विविध आकृतियों और नमूनों में हमें इस जगत में देखने को मिलते हैं।*

7. *यह जीवनधारा या जीवन-तत्व अत्यंत ही सूक्ष्म है– दिव्य-ज्योति की एक स्व:देदीप्यमान चिंगारी, चेतना के उस महासागर की एक बूँद, जिसका न तो आदि है न ही अंत, जो एक सदा एकरस, अपरिवर्तनीय स्थायित्व, सीमारहित, स्वपरिपूर्ण, शाश्वत और सर्व-संवेदनशील सत्ता है, जो दृश्य और अदृश्य सभी रूपों में व्याप्त है, क्योंकि सभी वस्तुयें इसी सत्ता के कारण ही अभिव्यक्त होती हैं। ऐसा कुछ भी नहीं बना है, जो इससे नहीं बना हो।*

बहुरंगी शीशों के महराब सा जीवन
नित्यता के उज्ज्वल प्रकाश को
अभिरंजित करता है विविध रूप,
सब परिवर्तित हो, होते समाप्त
केवल 'एक' ही बाक़ी रहता
जीवन बहु-रंगी शीशों का गुबंद
काल असीम की शुभ्र कांति को
धब्बा बन मैला करता।

– पर्सी बाइशे शैले [Percy Bysshe Shelley- 'Adonais']

8. *जैसे सूर्य अपनी किरणें संसार भर में फैलाता है, जैसे समुद्र अपनी सतह पर बुलबुले, लहर-लहरियाँ, धारायें और ज्वार-भाटे धारण किए रहता है, जैसे वन अनगिनत वृक्षों का एक महान समूह होता है, इसी प्रकार परमात्मा भी- जब उसे उसकी सृष्टि के माध्यम से देखा जाये- अनगिनत*

आकारों में, जो अपने विविध रंग-रूपों के द्वारा उसी के जीवंत प्रकाश को प्रदर्शित और परावर्तित करते हैं, बँटा हुआ प्रतीत होता है। परन्तु, किसी माला की विभिन्न मणिकाओं को एक सूत्र में पिरोने वाले धागे के समान, उसकी सत्ता सब में एक समान रूप से विद्यमान है, जबकि वह स्वयं अपनी परिपूर्णता में, सब से अप्रभावित सबसे असम्बद्ध रहता है।

***9.** प्रभु से उत्पन्न हुई प्रथम सुरत की (आध्यात्मिक) धारा के नीचे की ओर प्रवृत्त होने पर, उससे सब से पहले 'आकाश' तत्व प्रकट हुआ, जोकि सब तत्वों में सूक्ष्तम है और समस्त अन्तरिक्ष में फैला है। इस के दो पक्ष हैं– एक है, जीवन-तत्व या आत्म-तत्व का आकाश में अव्यक्त रूप से बने रहना। दूसरा है, व्यक्त आकाश का, जिसमें सकारात्मक और नकारात्मक- दो शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। इन दोनों ने आगे मिल कर 'वायु' तत्व को व्यक्त किया और ठीक उसी प्रकार, व्यक्त वायु ने, 'अग्नि' तत्व को और व्यक्त अग्नि ने, 'जल' तत्व को व्यक्त किया और जल से 'पृथ्वी' तत्व की रचना हुई। इस दौरान प्रत्येक तत्व की सुरत, जोकि मूलतः एक ही है, सबमें अव्यक्त ही बनी रही।*

जिस तरह ऊपर बयान किया गया है, उसी प्रकार, हम जिसे 'परमात्मा' कहते हैं, उसका एक असीम व प्रतिरूपरहित प्रभुत्व है, जो संसार का जीवनतत्व और आत्मा है, और साथ ही साथ वह स्वयं संसार में भी व्याप्त है, जो अनन्त अभिव्यक्त रूपों और रंगों से भरा है, जोकि जीवन सागर में लहरों की तरह प्रकट होते-नष्ट होते रहते हैं। अव्यक्त और व्यक्तित्वरहित परमात्मा सभी गुण-विशेषणों से रहित है, जबकि अनगिनत रूपों एवं रंगों में अभिव्यक्त, उससे पृथक् हुई किरणें, माया, प्रकृति और प्रधान (स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थायें) के सतत् संपर्क के कारण अपने असली रूप से अनभिज्ञ होने से अपने आप को परिसीमित और एक-दूसरे से भिन्न मानती हैं, और इसी से कर्मों के अटल नियम अर्थात् कारण-परिणाम नियम के घेरे में खिंच जाती हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक कर्म, वचन और विचार का परिणाम भुगतना ही पड़ता है। एक जन्म की अपूर्ण इच्छायें किसी अन्य जन्म में पूरी होती हैं और इस प्रकार से जीवन और मृत्यु का महान चक्र जब एक बार गति में आ जाता है, तो फिर वह अपने ही अक्षय संवेग द्वारा निरन्तर चलता रहता है। एक पृथक् आत्मा एवं

सृष्टि की परम्-आत्मा (जिसे 'प्रभु' कहा जाता है) में यही अन्तर है– एक बंधनयुक्त एवं सीमित है, और दूसरा मुक्त एवं असीम है।

प्रकृति अथवा भौतिक पदार्थ

'प्रकृति' शब्द एक संयुक्त (समास) शब्द है, जो संस्कृत के उपसर्ग 'प्र' और धातु 'कृ' से बना है। 'प्र' का अर्थ है, 'प्रथम' और 'कृ' का अर्थ है, 'करना'। इस प्रकार, 'प्रकृति' का अर्थ है, 'मूल पदार्थ' (अव्यक्त ऊर्जा), जोकि सकारात्मक जीवन सत्ता धारा के द्वारा प्रभावित होने पर महान सृष्टिकर्त्ता की विशाल सृष्टि में अनेक रूपों, आकृतियों और नमूनों को जन्म देती है। इसी को 'माया' कहा जाता है और जो कुछ भी किसी इन्द्रिय द्वारा देखा या अनुभव किया जा सकता है, वह सब भौतिक पदार्थ या 'प्रकृति' की श्रेणी में आता है। भौतिक पदार्थ, जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, निम्नतम स्तर अपने पर विद्यमान अव्यक्त ऊर्जा है, जिसमें हलचल पैदा होने से वह विभिन्न रूप धारण करती है, जिन्हें हम प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। ऊर्जा की निष्कियता से सक्रियता की यह सर्जन क्रिया, अर्थात् अव्यक्त आत्म-शक्ति की अभिव्यक्ति, का कारण बनती है।

'ब्रह्मन्' या आत्म-शक्ति केवल किसी स्थूल आवरण या 'काया' के माध्यम से ही अस्तित्व में आती है। जिस प्रकार सभी भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाली व्यक्तिगत आत्माओं की समष्टि से परमात्मा बनता है, उसी प्रकार विभिन्न रूपों एवं रंगों में उत्पन्न समस्त प्राणियों और वस्तुओं की महान भूलभुलैया की समष्टि को 'प्रकृति' कहते हैं।

प्रकृति, अपने आप में, न तो इंद्रियों द्वारा अनुभव की जा सकती है और न ही उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व है; परन्तु इसकी अभिव्यक्ति तभी होती है, जब आत्म-शक्ति उस पर अपना प्रभाव डालती है। जैसे सूर्य की किरणों का सूर्य से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं होता और वे तभी प्रकट होती हैं, जब सूर्य क्षितिज पर उदय होता है, ठीक इसी प्रकार प्रकृति चेतनधारा के संयोग से अनगिनत रूप और आकृतियाँ धारण करती हैं, जोकि मानवीय बोध की सीमा से बाहर हैं; और एक ही अदृश्य आत्मा, विभिन्न नामों एवं आकृतियों (योनियों) के साथ, अनेक भागों में रूपान्तरित होती हुई प्रतीत होती है, जिसका वर्णन एवं समाधान अत्यन्त गूढ़ है। फिर भी, योगियों ने

पाँच 'कोशों' या आवरणों की चर्चा की है, जिन्होंने नीचे की ओर उतरती हुई आत्म-शक्ति की धारा को ढक लिया है, और उन्होंने इन आवरणों को हटाने की युक्तियाँ भी निकाली हैं तथा उनका उल्लेख किया है। इन कोशों या आवरणों का, संक्षेप में, वर्णन इस प्रकार है :

1. विज्ञानमय कोश : *यह मानसिक तंत्र अथवा बुद्धि का आवरण है, और इस के दो रूप हैं- एक का सम्बंध भौतिक स्तर पर 'ज्ञान' से है तथा दूसरे का आध्यात्मिक स्तरों पर 'विज्ञान' (ज्ञानोदय) से। यह पहला आवरण है, जिसमें आत्मा सूक्ष्म पदार्थ अर्थात् 'प्रकृति' के सम्पर्क में आने पर लंपट हो जाती है। आत्मा का प्रकाश जब बौद्धिक केन्द्र से परावर्तित होता है, तो वह उस क्षमता को गतिशील बना देता है, जिसे सामान्यत: 'बुद्धि' कहा जाता है और जिसमें आंतरिक आध्यात्मिक बोध और बाह्य-ज्ञान- दोनों सम्मिलित हैं। आत्मा, इस परावर्तनजनित बौद्धिक क्षमता के साथ- दोनों, 'अंतर्ज्ञान' (तर्क-वितर्क द्वारा निश्चय करने) और 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' के सक्षम हो जाती है।*

2. मनोमय कोश : *यह दूसरा परदा या आवरण है, जो बुद्धिमयी या ज्ञानात्मक आत्मा, प्रकृति के साथ और अधिक घनिष्ठ सम्पर्क होने से अपने ऊपर चढ़ा लेती है, जो (प्रकृति) अब मनोभाव (चित्त) को भी प्रतिबिंबित करना प्रारम्भ कर देती है, और इस अतिरिक्त कार्यशक्ति के साथ आत्मा का रुझान मन की ओर बढ़ने लगता है और धीरे-धीरे मन उस पर हावी हो जाता है।*

3. प्राणमयी कोश : *प्राणों का आवरण आत्मा के गिर्द तीसरा परदा होता है। जब ज्ञानात्मक और मनोमयी आत्मा का प्रकृति (भौतिक तत्व) पर दवाब और बढ़ता है, तो उस में प्राणों का स्फुरण होने लगता है। विभिन्न क्रियानुसार इन प्राणों के दस प्रकार हैं। इस कोश के साथ जुड़ने से ज्ञानात्मक व मनोमयी आत्मा, प्राणमयी बन जाती है अर्थात् एक गतिशील प्रभाव से प्रेरित।*

4. अन्नमयी कोश : *जब ज्ञानात्मक, मनोमयी और आवेगशील (प्राणमयी) आत्मा प्रकृति को प्रभावित करती है, तो यह उसमें एक और प्रकार का आवरण गढ़ लेती है, जिसे 'अन्नमयी कोश' कहा जाता है। पाँच परदों में यह बाह्यतम आवरण है और अपने रख-रखाव के लिये यह अन्न*

(खाद्य पदार्थों) और अपने विषय-वस्तुओं की लगातार आवश्यकता महसूस करने लगती है।

यह अन्नमयी आवरण इस स्थूल शरीर का आंतरिक अस्तर मात्र है और यह शरीर उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है। यह आवरण अपने बाह्य रूप अर्थात् शरीर के गलने, क्षय होने और बिखरने पर भी आत्मा को ढांपे रखता है। इस स्थूल शरीर का अस्तित्व इसके अन्दर स्थित अन्नमय कोश की स्वस्थ अवस्था पर निर्भर है।

कुछ आत्मायें बाह्य स्थूल शरीर को त्यागने के बाद भी अन्नमयी कोश के कारण खाद्य पदार्थों के लिये लालायित रहती हैं; वे सांसारिक भोग-विलासों की खोज में रहती हैं और अपनी अन्तर्जात लालसाओं की पूर्ति के लिये इन्सानी बस्तियों में ही भ्रमण करती रहती हैं। स्थूल शरीर विहीन प्रेताआत्माओं की इस अपूर्ण लालसाओं की पूर्ति के लिये ही हिन्दू-धर्मावलम्बी 'पिंडदान' और 'श्राद्ध' करते हैं और प्रेतात्माओं की संतुष्टि के लिये अन्न-वस्त्र दान, तर्पण आदि करते हैं, ताकि उन आत्माओं को चैन व शांति मिल सके।

5. आनन्दमयी कोश : *इन आवरणों में, वास्तव में, आनन्दमय कोश सर्वप्रथम व प्रमुख है। यह आत्मा का लगभग एक अभिन्न अंग ही है। यह सबसे सूक्ष्म आवरण है, जैसे कि एक रोशन झूमर के ऊपर एक झीना-सा परदा पड़ा हो। इसका कुछ-कुछ अनुभव स्वप्नरहित व गहन निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था में होता है, क्योंकि जागने पर इस पूर्ण प्रशांत विश्राम की अवस्था में अनुभव किए गये आनन्द की धुंधली याद बनी रहती है।*

इस प्रकार से ये पाँच कोश हैं, जिन्हें मुस्लिम 'हिजाब' (परदे या आवरण) कहते हैं, और जो एक के अन्दर एक आत्मा को ढके रहते हैं। सभी योग-साधनाओं का उद्देश्य या प्रयोजन है– आत्मा को धीरे-धीरे एक-एक करके इन सब आवरणों से मुक्त करना, जब तक यह अंततः सभी आवरणों से पूर्णतया मुक्त होकर अपने मूल एवं स्वयं-प्रकाशवान भव्य अवस्था (स्वयं-ज्योति) में वापस न आ जाये, जिसमें इसका अपना प्रकाश कई सूर्यों के सामूहिक प्रकाश से कम नहीं होता। यह अवस्था है, 'अहं ब्रह्मास्मि' ('मैं ब्रह्म ही हूँ') की। इस को प्राप्त होने पर साधक परमात्मा से न केवल एकत्व का ही अनुभव करता है, बल्कि इन शब्दों में उसका

अभिवादन करता है : 'अयमात्मा ब्रह्म' ("मेरी आत्मा ब्रह्मरूप है") अर्थात् "हे परमात्मा! मैं भी तत्वरूप से वही हूँ, जो आप हैं।" अधिकांश योग पद्धतियों में इस अवस्था को ही आध्यात्मिक साधना का चरम् लक्ष्य माना गया है। दरअसल, यह आत्मानुभूति का सर्वोच्च और अंतिम मुक़ाम है, परन्तु फिर भी आध्यात्मिक यात्रा में यह एक बीच का पड़ाव है और यहीं से कोई बिरली आत्मा इससे भी ऊँचे अभीष्ट लक्ष्यपूर्ण परमात्मानुभूति की ओर बढ़ती है, क्योंकि 'ख़ुद-शनासी' (आत्म-ज्ञान) ही धीरे-धीरे 'ख़ुदा-शनासी' (परमात्म-ज्ञान) की ओर अग्रसर करता है।

आत्म-ज्ञान और यथार्थ आत्मानुभूति, आत्म-विश्लेषण की प्रक्रिया का चरम बिन्दु है, जिसके बिना कोई परमात्मा की ओर नहीं बढ़ सकता और न ही प्रभु की बादशाहत में दाख़िल हो सकता है। देहाभास से ऊपर उठ कर और आत्मा (सुरत) को शरीर और मन के शिकंजों से मुक्त करा कर, अंतर्मुख होने और आत्मा को अन्तर में खींचने की इस प्रक्रिया का सबसे सरल, सबसे शीघ्र और सबसे अचूक तरीक़ा है– 'शब्द की धारा' या 'अनहद नाद' ('पवित्र-शब्द') के साथ जुड़ना, और यही परमात्म-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। यह सब से पुरातन विश्व विदित मार्ग है, जो सृष्टि के आदि से ही चला आ रहा है। जब से जीव अपने परलोक स्थित परम पिता परमात्मा से बिछुड़ा है, तभी से यह मार्ग मनुष्य से जुड़ा हुआ है। मानव-जाति के सभी महान सत्गुरुओं ने अपने शिष्यों को इसी 'शब्द' से जोड़ा है। इसी को ईसा-मसीह ने पवित्र परम् आत्मा के साथ 'बपतिस्मा' (Baptism) *कहा है।*

तीन शरीरों व पाँच कोशों के मध्य सम्बंध

मानवीय शरीर के तीन परिधान हैं : स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण अथवा बीज शरीर।

स्थूल शरीर में पाँचों कोश या आवरण विद्यमान रहते हैं और इसीलिये जागृत अवस्था में हमें इन पाँचों चीज़ों का कुछ न कुछ ज्ञान व अनुभव प्राप्त होता है : परमानंद, बोध या ज्ञान (अन्तरीय व बाह्य), मानसिकता (चित्त एवं इसकी वृत्तियाँ अर्थात् मानसिक तरंगें), श्वास-प्रश्वास या प्राणों की तंरगें और स्थूल शारीरिक व्यवस्था। जब आत्मा ऊपर चढ़ कर सूक्ष्म

शरीर में पहुँचती है, तो स्थूल शरीर के अस्तित्व की चेतना समाप्त हो जाती है, जबकि मानसिक तौर पर आत्मा बाक़ी की चार अवस्थाओं अर्थात् परमानंद, ज्ञान, मानसिकता और प्राणों की तरंगों का अनुभव करती रहती है।

जब आत्मा और भी ऊपर कारण शरीर में पहुँचती है, तब मानसिक संयंत्र से भी नाता छूट जाता है और केवल स्मृति (स्मरण शक्ति) ही शेष रह जाती है, और उस अवस्था में आत्मा परमानंद का साक्षात् अनुभव करती है।

कोशों के अनुसार सृष्टि का विभाजन

देवताओं से लेकर मनुष्य पर्यन्त, सभी जीवधारियों और पेड़-पौधों सहित जीवन के अन्य समस्त स्वरूपों को, निम्नलिखित किसी एक या अन्य क्षमता की प्रधानता के आधार पर, पाँच विभागों में वर्गीकृत किया गया है :

1. **विशुद्ध मन-सम्पन्न जीव** : *जैसे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इत्यादि।*
2. **चित्त-सम्पन्न जीव** : *इन्द्रादि देवी-देवतागण।*
3. **प्राणिक तरंग-सम्पन्न जीव** : *यक्ष, गंधर्व, एवं अन्य जीवात्मायें इत्यादि।*
4. **स्थूल देहधारी प्राणी** : *मनुष्य, जानवर, पक्षी, रेंगने वाले जीव-जंतु, कीट-पतंग इत्यादि।*

स्थूल देहधारी जीवों में अलग-अलग मात्रा में पाँचों कोश– आन. न्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय विद्यमान होते हैं, जबकि प्राणिक तरंग-सम्पन्न जीवों में अन्नमय कोश को छोड़कर शेष चार कोश होते हैं। इसी प्रकार चित्त-सम्पन्न जीवों में प्राणमय कोश भी हट जाता है, और केवल तीन बाक़ी रह जाते हैं, और मन-सम्पन्न प्रज्ञात्मक जीव केवल दो– आनन्दमय और विज्ञानमय- कोश युक्त होते हैं, और वे चित्त व प्राणों के बंधनों से तथा अन्न या भोजन की आवश्यकता से मुक्त होते हैं।

इस प्रकार पाँच मूल तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश), जिनसे देह बनती है, और कोशों या आवरणों में अत्यंत घनिष्ठ परस्पर

सम्बंध है। दरअसल, कोश स्वयं न्यूनाधिक इन पाँच मूल तत्वों के ही प्रभाव का नतीजा हैं और जीवों को उपरोक्त पाँच क्षमताओं से युक्त करते हैं।

5. जीवनमुक्त आत्मा *पर केवल आनन्दमय कोश का एक पतला सा पारदर्शी आवरण होता है। आत्मा अपने विशुद्ध और अमिश्रित रूप में स्वयं सृष्टिकर्ता है, क्योंकि समस्त सृष्टि इसी से प्रकट होती है और इसी कारण यह 'शब्द-ब्रह्म' के नाम से कभी-कभी जानी जाती है। यह स्वदेदीप्यमान, स्वयंभू और सभी गोचर और अगोचर पदार्थों का अहेतुक कारण है। आत्मा व परमात्मा- दोनों अपनी प्रकृति में और तत्वतः, एक समान हैं अर्थात् सूक्ष्मता तथा निजानंद। आनन्दमय अवस्था आत्मा और प्रकृति की पारस्परिक क्रिया की पहली उपज है और प्रभुत्व की आत्मा में सर्वप्रथम अभिव्यक्ति होने के फलस्वरूप, इसकी ज्योति को धुंधला करने वाले अन्य चार आवरणों से ही ढके होने पर भी, यह दीर्घतम काल तक अर्थात् अंत तक अपनी पूर्णतया में क़ायम रहती है। आनन्दमयता, आत्मा का तात्विक और अभिन्न गुण होने के कारण, इसकी प्रकृति ही में व्याप्त रहती है। यही कारण है कि खोजी आत्मा सदा बेचैन रहती है और अपना असली तत्व संसार के महान भंवर-जाल में खो जाने की महान व्यथा महसूस करती है। इसी वजह से ईसा मसीह ने ज़ोर देकर कहा है :*

सावधान रहो, ताकि वह ज्योति, जो तुम्हारे अन्दर है, कहीं अंधकार में न बदल जाये।

– पवित्र बाइबिल (लूका 11:35)

इस प्रकार अपने अन्तर के परमानंद के ओझल हो जाने पर हम बाह्य जगत के पदार्थों में सुख-शांति पाने का प्रयास करते हैं और क्षणिक भोग-विलासों को ही सच्चे आनन्द का पर्याय मान बैठते हैं, परन्तु अति शीघ्र ही इनका भ्रम टूट जाता है। तब असली सुख-शांति की नैसर्गिक खोज प्रारम्भ होती है। मानव हृदय में यह शाश्वत तलाश है और बाह्य, क्षणिक और क्षणभंगुर भोग-विलासों से हटकर सच्ची सुख शांति की खोज में व्यक्ति को अंतर्मुख होने के लिये बाध्य होना ही पड़ता है। यही खोज भिन्न-भिन्न जिज्ञासुओं को, उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार, विभिन्न योग-साधनायें आरम्भ करने के लिये प्रेरित करती हैं :

__1.__ स्थूल एवं पाश्विक प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति, जिनकी रुचि केवल शरीर को सुदृढ़ बनाने और अन्नमयी आत्मा के विकास में होती हैं, वे बड़ी सरलता से 'हठ-योग' को अपनाते हैं।

__2.__ जो व्यक्ति वायु विकार और जठरीय दोषों का शिकार रहते हैं और जिन्हें अपने शरीर में प्राणवायु का भारी वहम रहता है, वे इनका उपचार 'प्राण-योग' द्वारा कर सकते हैं।

__3.__ जिन व्यक्तियों में मनोमयी आत्मा उदीयमान होती है और जो मल, आवरण तथा विक्षेप अर्थात् मानसिक अपवित्रता, अज्ञान और मन की अशांति से पीड़ित हैं, वे 'राज-योग' की सहायता से मनोमय कोश पर क़ाबू पा कर उसका उन्मूलन कर सकते हैं।

__4.__ जो व्यक्ति बौद्धिक प्रतिभा के धनी हैं, वे हमेशा चीज़ों के सम्बंध में 'क्यों' और 'कैसे' की खोज में लगे रहते हैं– ऐसे जिज्ञासु 'विज्ञान' या 'ज्ञान-योग' का मार्ग अपनाते हैं।

__5.__ जो व्यक्ति संसार और सांसारिक झंझटों से भाग निकलने के लिये व्यग्र रहते हैं और परमानंद की खोज, केवल परमानंद हेतु करने में लगे रहते हैं, वे 'आनन्द-योग' अर्थात् सच्चे आनन्द के योग का रास्ता अपनाते हैं, जिसे 'सहज-योग' कहते हैं।

सहज-योग में साधक को अन्य योगों की भांति किसी भी कठिन क्रियाओं का अभ्यास नहीं करना होता। उसके अन्दर ध्येयों के ध्येय और लक्ष्यों के लक्ष्य के लिये एक सच्ची एवं अनवरत् लगन होनी चाहिए, न कि केवल अपनी शारीरिक व मानसिक शक्तियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने का संतोष। और जब ऐसी उत्कंठा हृदय में जागेगी, तो देर-सवेर उसका मेल-मिलाप किसी समर्थ पुरुष से अवश्य हो जायेगा, जोकि उसे उसके अन्तर में विद्यमान चैतन्य-धारा से जोड़ देगा- जैसे कि श्री रामकृष्ण को तोतापुरी मिले थे- और यह धारा स्वयं, अपनी ही शक्ति और आकर्षण से, बिना उसके किसी विशेष संघर्ष या प्रयत्न किए ही, उसे ऊपर ले जायेगी। यही वह बात है, जो एक तरह से इसे तमाम योगों में सब से आसान बनाती है और इसीलिये इसको प्राय: 'सहज-योग' (प्रयत्नरहित योग) कहा जाता है। इसका अभ्यास सभी के द्वारा उसी सुगमता किया जा सकता है– चाहे बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष, बुद्धि-कुशल हो या सीधा-साधा, सन्यासी

हो या गृहस्थी। इसके अंतर्गत आत्मा (सुरत) का अन्तर में निरन्तर होने वाली आध्यात्मिक धारा की झंकार से मेल कराना होता है। इसलिये इसे 'सुरत-शब्द योग' या 'शब्द-धारा का योग' कहते हैं।

इस प्रारंभिक टिप्पणी के बाद हम पतंजलि द्वारा प्रतिपादित, इसके विभिन्न आवश्यक अंगों सहित योग के विषय पर विचार करने की स्थिति में आ गये हैं। हम इसके विभिन्न अंगों की भूमिका पर, उनके अन्दर प्रयुक्त तकनीकों पर, हरेक क़दम के प्रयोग पर और इस बात पर भी विचार करेंगे कि यौगिक प्रक्रियायें अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में अर्थात् आत्मा को मन-माया के बन्धन से आज़ाद कराने में किस हद तक सहायक होती हैं, ताकि आत्मा को देहाभास से पृथक् अपने अन्तर्निहित सशक्त स्वरूप का बोध हो सके और फिर वह ब्रह्मांडीय चेतना तक तथा फिर इस से भी आगे पार-ब्रह्मांडीय चेतना तक ऊपर उठ सके। यह मुक्त आत्मा ही है, जोकि विभिन्न स्तरों पर 'आत्म-बोध' की अनुभूति से 'ब्रह्मांडीय' अनुभूति और अन्ततः, 'पार-ब्रह्मांडीय' या परमात्मा की अनुभूति कर सकती है।

द्वितीय अध्याय

योग–विद्या तथा योग–साधना

योग का मार्ग : सिद्धान्त एवं व्यवहार

1. पुरातन योग का आधार

योग-प्रणाली का उद्गम व क्रियाविधि

याज्ञवल्क्य-स्मृति *से हमें पता लगता है कि योग के प्रथम शिक्षक हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) थे। परन्तु, एक प्रणाली के रूप में, योग-प्रणाली का प्रतिपादन सर्वप्रथम ईस्वी सम्वत् के प्रारम्भ से कुछ समय पूर्व पतंजलि, जोकि एक महान विचारक और दार्शनिक थे, ने अपनी रचना, योग-सूत्र में किया। योग प्रणाली भारतीय दर्शन की छः विधाओं में से एक है, जिनकी व्यवस्था और रचना व्यक्तिगत आत्मा, ब्रह्मांड और उनके पारस्परिक सम्बंध के बारे में भारतीय दर्शन की विचारधारा को सुव्यवस्थित करने के लिये की गई। ये दर्शन (Philosophy), मनोविज्ञान (Psychology) व तत्वमीमाँसा (Metaphysics) के विषयों की पुरातन और चिर-सम्मानित धारणाओं के संशोधन और प्रतिपादन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप विकसित हुए।*

आम प्रयोग में 'योग' शब्द का अर्थ है, 'विधि' या तरीक़ा, किन्तु अपने तकनीकी अर्थ में इसका मतलब है, व्यक्तिगत आत्मा का परम्-आत्मा या प्रभु के साथ 'संयुक्त होना' या जुड़ना। अंग्रेज़ी शब्द 'योक' (yoke) का अर्थ है– 'संयुक्त होना', या 'एक साथ जुड़ना' और 'स्वयं को अनुशासन में ढालना'। इस संदर्भ में, योग-प्रणाली का तात्पर्य एक 'विधिपूर्वक पालन किए गये अनुशासन' से है, जिसका उद्देश्य एक ओर तो आत्मा का मन व पदार्थ से 'वियोग' (अलगाव) कराना है, और दूसरी ओर, इसे का ब्रह्म के साथ 'संयोग' कराना है। अतः इसका आशय मनुष्य के अन्दर

अनुभवातीत (transcendental) व दिव्यता की खोज करने से है, या स्थूल और सूक्ष्म अवस्थाओं को उनके मूलतम भाग तक घटाते हुए, 'इह-सत्ता' में 'परा-सत्ता' को खोजने से है, जो समस्त दृश्यमान व अदृश्यमान अस्तित्व का आधार व अध:स्तर है। अत: योग-विधियों का आशय स्थूल शरीर, सदा चंचल मन, स्वाग्रही अहंकार या इच्छाशक्ति, छानबीन व प्रश्न करने में लगी बुद्धि, प्राणवायु के स्फुरण तथा अधीर कर्मेन्द्रियों और शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण करने के द्वारा पूर्णता हासिल करने के कठिन प्रयासों तथा कठोर उद्यम से है। रूपक के तौर पर, एक व्यक्तिगत आत्मा का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि यह इस आत्मा शरीररूपी रथ में सवार है, भ्रमित बुद्धि इसकी सारथी है, विषयजनित मन इसकी लगाम हैं तथा इन्द्रियाँ शक्तिशाली घोड़े हैं, जोकि अपने विषयों और भोगों के क्षेत्र की ओर सरपट भागे चले जा रहे हैं। इन सभी दृष्टान्तों से प्रतीत होता है कि योग के एक साधक को इस तरह के अत्यंत कठिन, अनुशासनबद्ध व नियमित कार्यक्रम पर लगातार चलना पड़ता है, जिससे आत्मा व्यक्तित्वरहित होकर देहाभास से ऊपर उठकर और जीवन के सभी बंधनों– शारीरिक, मानसिक व परा-मानसिक, से आज़ाद हो जाये और परमात्मा की सत्ता का सम्पर्क पाकर प्रभु से एकमेक हो जाये।

'योग' शब्द को 'योग-माया' और 'यौगिक शक्तियों' के साथ जोड़कर उसका अर्थ नहीं लगाना चाहिए। 'योग-माया' से तात्पर्य है, ईश्वर की सृष्टि के सर्जन, नियमन और पालन की सर्वोच्च शक्ति, जबकि 'यौगिक शक्ति' का अर्थ है– ऋद्धि-सिद्धि जैसी मानसिक शक्तियाँ, जोकि योग के मार्ग में हासिल हो सकती हैं। पुन:, 'योग-विद्या' अर्थात् 'योग-विज्ञान' के दो पक्ष हैं : शारीरिक तथा आध्यात्मिक। अपने पहले अर्थ में इसे शारीरिक शिक्षा, व्यायाम आदि की एक यौगिक पद्धति माना जाता है, जिसका उद्देश्य मानव-शरीर के विभिन्न अंगों का सर्वांगीण विकास करना है। लेकिन यहाँ हमारा अभिप्राय योग के आध्यात्मिक पहलू से है, जिसका उद्देश्य आत्मा, जो मनुष्य के अन्दर का वास्तविक जीवन-तत्व है, की भलाई है और जिसकी इस समय में अवहेलना और अपेक्षा हो रही है। अत: इस संदर्भ में, 'योग' शब्द को, वेदों द्वारा प्रणीत दार्शनिक विचारधारा की एक प्रणाली के रूप में लिया जाना चाहिए, जिसका एकमात्र उद्देश्य है– इस आत्मा को, जिसने

युगों-युगों के लम्बे और सतत् साहचर्य के कारण मन और भौतिक तत्वों के साथ ही अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है और जो अब उन्हीं के कार्य-कलापों में खो गई है, आध्यात्मिक साधना द्वारा पुन:स्थापित करना। संक्षेप में, योग का अभिप्राय है– मनुष्य की आत्मा को सही दिशा देकर पुन:स्थापन व पुन:संघटन की एक तकनीक– वह आत्मा, जो उसके असली व्यक्तित्व का खोया हुआ महाद्वीप है।

मूलभूत सिद्धांत

'योग' दो बातों की पूर्वकल्पना करता है, जो जगत की सृष्टि के लिये ज़िम्मेदार हैं : 1. 'ईश्वर' या परमात्मा और 2. 'अविद्या' या माया। जबकि पहला, पूर्णरूपेण प्रज्ञावान (intelligent) है, तो दूसरा बिल्कुल ही प्रज्ञाहीन है। मनुष्य भी इन दो मूल तत्वों का संयोग है। 'जीव' या व्यक्तिगत आत्मा, यद्यपि तात्विक रूप से परमात्मा के समान ही है, परन्तु यह मन-माया के आवरण में क़ैद है। आत्मा देश-काल-कारण जगत में अभ्यस्त है– इस कारण इसका बोध अपूर्ण है और यह उस असलियत, आत्मन को अर्थात् उस दिव्य-आधार को नहीं देख पाती, जिस पर यह आधारित है और जिस से यह अपना तेज प्राप्त करती है। अन्त:करण या मन, परावर्तक (reflector) है और आत्मा दीप्तिकर (illuminator) है, जिसका प्रकाश इन्द्रियों के माध्यम से, जिनसे संसार का अनुभव होता है, परावर्तित होता है। इस तरह यह जगत 'दृष्टा' और 'दृश्यमान' का संयोग है। इस संयोग का भंग होना ही मुक्ति है और पूर्ण अन्तर्दृष्टि इस मुक्ति का साधन है। इस प्रकार से मुक्ति दृष्टा को दृश्यमान से प्रथक् करने में ही है अर्थात् कर्त्ता (subjective) का, स्थूल, मानसिक व कारण– सभी प्रकार के कर्मों (objective) से पूर्ण रूप से अलगाव, ताकि 'स्वयं-तत्व', जो दृष्टा है, अपने ही प्रकाश में, जिसे 'शून्य की ज्योति' कहा जाता है, स्वयं को देख सके।

व्यक्तिगत आत्मा या रूह को मन व भौतिक-पदार्थ के बंधनों से मुक्त कराने के लिये योग में जिन बातों पर बल दिया गया है, वे हैं : 1. एकाग्रता (concentration) तथा 2. सक्रिय प्रयास (striving) या संघर्ष, जिसमें भक्ति तथा मानसिक अनुशासन का अभ्यास शामिल हैं। पदार्थ-तत्व

का सर्वोत्कृष्ट रूप 'चित्त' है, जो अवचेतन संस्कारों की अथाह झील है, और 'योग' का उद्देश्य है, अंत:स्थ मनुष्य या जीवात्मा को इन प्रभावों से मुक्त कराना। चित्त अथवा मनुष्य में निहित यह छोटा सा अहंतत्व भौतिक पदार्थों के सूक्ष्मतम् एवं सबसे बारीक़ तत्वों का बना है। हालाँकि यह अपने आप में मूलत: अचेतन है, फिर भी त्रिविध गुणों के प्रभाव से उसमें परिवर्तन आ जाता है। जिस शरीर में इसका समय-समय पर वास होता है, उसकी प्रकृति के अनुसार, या फिर आस-पास के परिवेश के अनुरूप इसमें संकुचित तथा विस्तृत होने की क्षमता भी होती है।

यह चित्त या मन, यद्यपि ज़ाहिर रूप में प्रत्येक व्यक्ति में परिबद्ध है, परन्तु वास्तव में वह सर्वव्यापी ब्रह्मांडीय मन (Universal Mind) का ही एक अंश है। योग की प्रणालियों का उद्देश्य यही है कि 'सत्व' (विशुद्ध) गुण को विकसित करके तथा 'रजस्' (क्रियाशील) को तथा 'तमस्' (गहन) गुणों को तिरोहित करके, परिसीमित तथा परिस्थिति वशीभूत मन को सीमा मुक्त व अप्रतिबंधित ब्रह्मांडीय मन में परिवर्तित किया जा सके। इस अवस्था में योगी ब्रह्मांडीय या निज-मन से एकत्व प्राप्त कर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेते हैं। चित्त आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण है। वह उस 'चैतन्य माया' अर्थात् उस पदार्थ के कारण अस्तित्व में आता है, जिसे कि स्वयं-ज्योतिरूप आत्मा क्रियाशील करती है और जिस आत्मा के आध्यात्मिक प्रकाश में मानसिक एवं परामानसिक प्रकाश सहित समस्त बोध प्राप्त होता है। चित्त के अन्दर जो अवचेतन संस्कारों की छाप पड़ी रहती है, वे ही आगे इच्छायें व शौक़ पैदा करते हैं, जिनसे आगे कार्यशक्ति (potencies) पैदा होती हैं, और उनसे व्यक्तित्व का निर्माण होता है, और इस प्रकार, संसार का चक्र शाश्वत रूप से चलता रहता है। जब एक बार आत्मा चित्त, मन, बुद्धि और अंहकार– इन सबसे मुक्त हो जाती है, तो यह अपने आपे में आ जाती है और इच्छारहित तथा व्यक्तित्वविहीन हो जाती है। यह ही वह महान परिणाम है, जोकि योग-विद्या की प्रणाली योगियों को प्रदान करने का वादा करती है। इस प्रकार, मन के चतुर्दिक बंधनों के टूट जाने से, यह देहबद्ध जीवात्मा स्वंतत्र व्यक्तित्व-विहीन एवं स्वयंप्रकाशवान आत्मा बन जाती है और निज आत्म-अनुभव को पा लेती है, जो 'योग' का सर्वोच्च लक्ष्य है।

2. अष्टांग-योग मार्ग तथा उसकी शाखायें

यौगिक *कला दीर्घकालिक, कष्टप्रद तथा कठोर है। आत्मा की वास्तविकता मल, आवरण व विक्षेप (अर्थात् गंदगी व अपवित्रता, जीवन के सच्चे मूल्यों के बारे में अज्ञानता तथा चित्त में लगातार उठने वाली संकल्प-विकल्प की तंरगें) के मन के मलबे के नीचे दबी हुई है। इसीलिये मानसिक पटल को इन सबसे साफ़ करना होगा, ताकि इस आवरण का छेदन-भेदन करके, इसके परे स्वयं की आत्मा के दिव्य-स्वभाव की प्राप्ति की जा सके। इसे प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को अपनी इच्छाओं पर विजय पाना होगा, विचारों को शांत-स्थिर रख पाना होगा तथा संयम, ब्रह्मचर्य, संयम, सदाचार इत्यादि सद्‌गुणों का विकास करना होगा और फिर, वैराग्य को विकसित करना होगा।*

बाधाओं को पार करने और आत्मा का अनुभव पाने हेतु पतंजलि ने आठ विधियों का एक विस्तृत वर्णन हमें प्रदान किया है, जिसे वह 'अष्टांग योग' कहते हैं। इसके अंग हैं : 1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान और 8. समाधि।

1-2. *यम और नियम*

यम : *शाब्दिक रूप से 'यम' शब्द का अर्थ है– निष्कासित करना, निकाल देना, फेंक देना, उन्मूलन करना। इसका तात्पर्य है– दुर्गुणों का त्याग करना तथा किसी भी बुरे विचार को अपने मन में स्थान न देना और किसी भी बुरे भाव को मन में न लाना, जिसका नकारात्मक प्रभाव मानसिक दृढ़ता व इच्छा-शक्ति को कमज़ोर करे।*

नियम : *इसके विपरीत, 'नियम' शब्द का अर्थ है– सद्‌गुणों को अंगीकार करना, पैदा करना, पालन करना तथा विकसित करना, अच्छी भावनाओं को ग्रहण करना और इन सद्‌गुणों को अपने अन्दर धारण करना।*

इस प्रकार इन दो शब्दों का तात्पर्य क्रमशः दुर्गुणों का त्याग करना, तथा साथ ही साथ परिश्रम करके सद्‌गुणों को विकसित करना तथा अपनाना। पतंजलि ने इन यमों और नियमों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है :

अहिंसा : *किसी को चोट न पहुँचाना,*

सत्य : *झूठ न बोलना,*

अस्तेय : *चोरी नहीं करना,*

ब्रह्मचर्य : *काम वासना का त्याग,*

अपरिग्रह : *लालच न करना तथा अपने पास कुछ संग्रहीत न करना।*

यमों के बारे में कहा गया है कि,

1. *जो व्यक्ति 'अहिंसा' में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता।*

2. *जो व्यक्ति 'सत्य' का आचरण करता है, उसके बोल सत्य एवं फलदायी होते हैं।*

3. *जो व्यक्ति 'अस्तेय' में प्रतिष्ठित हो जाता है, वह प्रकृति का सच्चा मित्रा होता है और प्रकृति अपनी समस्त सम्पदायें उसके लिये उपलब्ध कर देती है।*

4. *जो व्यक्ति 'ब्रह्मचर्य' धारण करता है, वह सम्पूर्णत: शक्तिसम्पन्न हो जाता है।*

5. *जो व्यक्ति 'अपरिग्रह' धारण करता है, वह जीवन के रहस्य को सुलझा लेता है और भूत, भविष्य व वर्तमान उसके सामने खुली किताब की तरह प्रत्यक्ष हो जाते हैं।*

पाँच नियम इस प्रकार हैं :

शौच : *तन और मन की पवित्रता,*

संतोष : *मन में संतुष्टि धारण करना,*

तप : *संयम का जीवन रखना,*

स्वाध्याय : *धर्मग्रन्थों का पठन-पाठन, जप करना आदि तथा*

प्रसाधना *या* **ईश्वर प्रणिधान** : *ध्यान को प्रभु के साथ जोड़ना तथा प्रभु के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पण।*

1. *'शौच' धारण करने से पवित्रता की प्राप्ति होती है तथा दूसरों के शरीरों को स्पर्श करने में घृणा का अनुभव होता है।*

2. *'संतोष' धारण करने से व्यक्ति संतुष्ट हो जाता है और मानसिक रूप से सम्पन्न हो जाता है।*

3. *'तपश्चर्या' से व्यक्ति सभी प्रकार की अशुद्धियों से मुक्त हो जाता है और उसे अलौकिक शक्तियाँ (सिद्धियाँ) प्राप्त हो जाती हैं (जैसे अणु*

कुछ यम और नियम

यम (त्याग करना व संयम रखना)	नियम (अंगीकार करना तथा धारण करना)
1. परमात्मा को नकारना, नास्तिक होना।	**1.** परमात्मा व उसकी शक्ति में विश्वास रखना।
2. अपने आप को बेक़ाबू रखना, चंचल होना।	**2.** आत्म–नियंत्रण, शुद्धता, पवित्रता (ब्रह्मचर्य धारण करना या मन, वचन व कर्म से युक्तिगत)।
3. बेईमानी व धोखा–धड़ी से रोज़ी–रोटी कमाना।	**3.** ईमानदारी व हक़–हलाल की कमाई से गुज़र–बसर करना।
4. स्वास्थ्य के लिए हानिकारक व अपवित्र जीवन के हालातों– अन्तरी व बाहरी– दोनों में रहना।	**4.** सफ़ाई : आंतरिक, ख़ूब सारा पानी पीकर पेट साफ़ रखने से और प्राणवायु को ऑक्सीजन इत्यादि से तथा बाहरी, नियमित त्वचा–स्नान, कटि–स्नान, सूर्य–स्नान व वायु–स्नान आदि, तथा स्वास्थ्यवर्धक व साफ़–सुथरे वातावरण में रहना।
5. दूसरों का विचारों से, शब्दों से हनन करना व हिंसा पहुँचना।	**5.** विचार, शब्द व कर्मों से किसी को चोट व हिंसा नहीं पहुँचाना (अहिंसा)।
6. झूठ, धोखा और पर–वस्तु की लाल. सा का अभ्यास।	**6.** सत्य, सद्‌व्यवहार, दान आदि गुणों का विकसित करना।
7. संतोष, लालच व स्वार्थ।	**7.** शांति धैर्य, संतुष्टि व निष्काम–सेवा।
8. अहंकार तथा मान–बड़ाईं।	**8.** नम्रता तथा आत्म–त्याग।

जैसा हो जाना, भार-विहीन हो जाना, अत्यंत तीव्रगामी हो जाना, किसी भी स्थान की तत्काल पहुँच पर लेना, सभी इच्छाओं की पूर्ति कर लेना, सर्वव्यापी हो जाना, दिव्य-शक्तियाँ प्राप्त कर लेना तथा प्रकृति के सभी प्राणियों एवं तत्वों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेना इत्यादि)। पूर्व-इच्छित शक्तिओं के प्रतिकूल पक्ष पर ध्यान एकाग्र करने से ये शक्तियाँ स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं।

***4.** 'स्वाध्याय' से अपने इष्ट-देवता का साक्षात्कार होता है।*

***5.** 'ईश्वर-प्रणिधान' से व्यक्ति तृप्त हो जाता है और इच्छाओं की समाप्ति हो जाती है।*

उपनिषदों में दी गई दोनों ही सूचियों में दस यम (जिनको त्यागना है) और दस नियम (जिनको धारण करना है) शामिल हैं। पहली श्रेणी में अपरिग्रह के स्थान पर दया, ईमानदारी, क्षमा, सहनशीलता, संयम और पवित्रता शामिल हैं। इसी प्रकार, दूसरी सूची में, शौच के स्थान पर आस्था, दानशीलता, विनम्रता, विवेकशीलता, जाप एवं व्रत शामिल हैं। परन्तु दोनों ही स्थितियों में परिणाम है– सदाचार या नेक जीवन, जो आंतरिक आध्यात्मिक विकास के लिये ज़मीन तैयार करता है। धारण किए जाने वाले गुणों की और जो अवगुण त्यागने हैं, उनकी सूची विभिन्न आचार्यों की अपनी अलग-अलग हो सकती है, परन्तु उनका उद्देश्य सदैव एक ही है। इस प्रकार मनु ने भी सदाचार अथवा धर्म के लक्षणों को अपने वर्गीकरण के अनुसार वर्णित किया है।

यम और नियमों, प्रतिबंधित व धारण करने योग्य आचरणों का अभ्यास करना ही सदाचार अथवा सही आचरण करना है और यह संसार के सभी धर्मों का मूल आधार है। मनु ने हमें धर्म का सार इस प्रकार दिया है : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इंद्रिय-निग्रह।

शांडिल्य ऋषि के अनुसार, इस सूची में शामिल हैं :

***1.** **शौच** : बाहरी तन-शुद्धि तथा स्थान व दिशा आदि की सफ़ाई और विचार, भावना और संकल्प आदि की आंतरिक पवित्रता।*

***2.** **दया** : सभी जीवित प्राणियों के प्रति सभी परिस्थितियों में दया एवं करुणा।*

***3.* आर्जव :** *सभी स्थितियों में एवं सभी कार्यों में मन को संतुलित व शांत रखना।*

***4.* धृति :** *सभी परिस्थितियों में धैर्य एवं सहनशीलता बनाये रखना।*

***5.* मिताहार :** *साधारणतया संयमित एवं अनुशासनबद्ध जीवन, विशेषत: खाने-पीने में।*

श्रीमद्भगवद्गीता में भी, भगवान श्री कृष्ण ने भी यमों और नियमों के पालन करने पर विशेष बल दिया है।

करुणावतार बुद्ध ने भी अपने शिष्यों के लिये सदाचार का आष्टांगिक मार्ग नियत किया था, जिसमें शामिल हैं : सत्य-विचार (ज्ञान), सत्य-आशा (संकल्प), सत्य-वचन, सत्य-आचरण (व्यवहार), सत्य-आजीवकोपार्जन, सत्य-उद्यम (अनुकूल प्रयास), सत्य-बोधन (मनन व चिंतन) तथा सत्य-चिंतन (ध्यान) तथा इन सबसे बढ़कर, उन्होंने 'सत्य को जीतने वाले और धर्म के प्रति श्रद्धा की भावनाओं को जागृत करने वाले' पवित्र व्यक्तियों की संगत में, जो परासरण (Osmosis) द्वारा जिज्ञासुओं के हृदय में श्रद्धा व भक्ति भाव जागृत कर देते हैं, रहने पर विशेष बल देते हैं। भिक्खु बुद्धरक्षित ने 'मज्झिमा पतिपदा' अर्थात् मध्यमार्ग या 'आत्म-विलास' तथा 'आत्म-तप' दोनों अतिमार्गों के बीच के स्वर्णिम माध्य का वर्णन करते हुए (self-indulgence) व तप (self-mortification) का वर्णन करते हुए, आधुनिक पाठकों को बौद्ध मत में विकास करने का रास्ता व अनुशासन निम्न भावों के द्वारा समझाते हैं :

***1.* शील भावना :** *आचरण की पवित्रता।*

***2.* चित्त भावना :** *मानसिक पवित्रता।*

***3.* प्रज्ञा भावना :** *बौद्धिक अंतर्दृष्टि।*

उसी लेखक ने प्रत्येक अन्य पक्ष के आधार के रूप में शील या नैतिक पवित्रता को विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया है– चाहे वह सांसारिक जीवन हो अथवा आध्यात्मिक विकास हो। बुद्ध ने कहा है कि जो वास्तविक रूप में सद्गुण सम्पन्न है, उसको पाँच प्रकार के लाभ होते हैं– यथा श्रम द्वारा उत्तम भाग्य की प्राप्ति, देश-विदेश में मान-

सम्मान, सभी संगतों में मान व आदर की प्राप्ति, अंत तक स्पष्ट प्रज्ञा तथा सौभाग्यपूर्ण पुनर्जन्म।

बौद्धमत के साधारण अनुयायी के लिये प्राथमिक न्यूनतम पाँच नियम अथवा 'पंचशील' बनाये गये हैं, जो सत्य-आचरण (सदाचार) के निर्माण के लिये है, जोकि उपर्युक्त वर्णित आष्टांगिक मार्ग का एक मुख्य अंग है। ये नियम हैं : हिंसा, चोरी, यौन सम्बन्धी दुराचरण, झूठ बोलने तथा नशीले पदार्थों के सेवन का निषेध तथा इसके साथ-साथ सदगुणों को अपनाना जैसे, सभी प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना रखना, दान देना, ब्रह्मचर्य धारण करना, सत्य का पालन करना और शील स्वभाव रखना। बुद्ध के पंचशील में हमें पुरातन ऋषियों द्वारा प्रतिपादित यम और नियमों से पूर्ण समानता देखने को मिलती है।

शील अथवा पवित्रता की प्रक्रिया दो मूलभूत तत्वों पर आधारित है। वे हैं : 'हीरि' (चेतना) और 'ओत्तप्पा' (लज्जा), क्योंकि एक तो आत्म-सम्मान और विवेक के कारण बुराई को नकारता है तथा दूसरे के लिये आदर भाव कराता है, जब कि दूसरा निंदा अथवा तिरस्कार से डरता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति में नम्रता, सच्चाई तथा मर्यादा के सद्‌गुण विकसित हो जाते हैं। जो बौद्ध मत के बारे में सच हैं, वही जैन विचारधारा में भी लागू होते हैं, जिसमें पाँच महाव्रत– यथा, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, सत्य और ब्रह्मचर्य (पवित्रता) शामिल हैं।

यम तथा नियमों पर जो दो-तरफ़ा ज़ोर दिया गया है, वह केवल प्राचीन भारतीय विचारधारा की ही विशिष्टता नहीं है। जब भी धार्मिक अनुभव की जिज्ञासा हुई है, सभी व्यक्तियों द्वारा इन यम-नियमों का पालन किया गया है। अत: जब हम यहूदी तथा ईसाई विचारधाराओं का परीक्षण करते हैं, तो हम ऐसा ही पाते हैं। मूसा ने 'दस नियम' ('The Ten Commandments') निर्धारित किए, जो उन कमज़ोरियों के बारे में हैं, जिनको त्यागना है– जैसे, देवी-देवताओं की उपासना, ईश्वर की मूर्तियों को अंकित करना, परमात्मा के नामों को व्यर्थ (बिना सार्थक ध्यान के) दुहराना, स्नानागार-हमाम को दूषित करना, अपने माता-पिता का अपमान करना, घोर अपराध करना जैसे, हत्या, व्याभिचार तथा चोरी और अंत

में सामाजिक बुराइयों– जैसे, झूठी गवाही देना, पड़ोसी की स्त्री व संपत्ति पर ललचाना इत्यादि। – पवित्र बाइबिल (निगमन 20:3-17)।

उपरोक्त आदेशों की तस्वीर को पूरा करने का काम ईसा मसीह ने अपने 'दस उपदेशों' ('The Ten Beatitudes') द्वारा किया, जिसमें इन गुणों को विकसित करने पर ज़ोर दिया गया : अन्तरात्मा की निष्कपटता (सादग़ी), शोक मनाना, विनम्रता, धर्मपरायणता की तीव्र अभिलाषा की भूख-प्यास, करुणा, हृदय की निर्मलता, शांति, सत्याचरण के लिये उत्पीड़न भी झेलना, सभी तरह के अपशब्द व निंदा को शांति से बरदाश्त करना। – पवित्र बाइबिल (मत्ती 5:1-11)।

उनका दावा अनुचित नहीं था, जब उन्होंने कहा :

मैं क़ानून तोड़ने नहीं, बल्कि क़ानून की पूर्ति के लिये आया हूँ।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 5:1-11)

इस्लाम की शिक्षा 'शरी'यत' (नैतिक आदेश) 'तौ'बा' (पछतावा करना), 'फ़क्र' (त्याग), 'ताज़्किया-ए-नफ़्स' (इन्द्रिय-निग्रह), 'तवक्कुल' (ईश्वर में विश्वास), 'तौहीद' (ईश्वर की एकता), एवं 'ज़िक्र' (आध्यात्मिक अनुशासन) पर ज़ोर देती है। सिक्ख-गुरुओं ने भी, जो इन के बहुत बाद में आये, इसी तरह के नियम व्यक्त किए, जिनमें आवश्यक सद्गुणों का विकास करने के लिये कहा गया है, जैसे ब्रह्मचर्य (chastity), धैर्य (patience), विवेक (understanding), ज्ञान (knowledge), प्रभु का ख़ौफ़ (fear of God), संयम (austerity), प्रेम (love) तथा करुणा (compassion)। गुरु नानक देव जी ने सच्चे जीवन को, संक्षेप में, अन्य सभी गुणों से ऊपर माना :

सचहु ओरै सभु को उपरि सचु आचारु॥

– आदि ग्रंथ (सिरी म॰1, पृ॰62)

ऐसा क्यों होना चाहिए, यह समझना मुश्किल नहीं है। आध्यात्मिक तरक़्क़ी करने योग्य बनने के लिये मन की शांति व एकाग्रता अत्यंत अनिवार्य है। जब तक व्यक्ति एक या दूसरी इच्छा का गुलाम है, यह एकाग्रता असम्भव है। इसीलिये, जो इच्छायें इस एकाग्रता से दूर ले जाती हैं, उनका मूलाच्छेदन करना आवश्यक है। लेकिन प्रकृति रिक्तता (vacuum)

पसन्द नहीं करती और जो भौतिक तथ्यों की सच्चाई है, वही मनोविज्ञानिक तथ्यों की भी है। मन को नकारात्मक और बिखराव की ओर ले जाने वाले संवेगों से साफ़ रखने के लिये एक ही रास्ता है कि उन्हें सकारात्मक और एकतापरक भावनाओं से बदल दें। फिर भी, 'सत्' के अभिलाषी को सदाचार का विकास करते हुए याद रखना चाहिए कि ये केवल साधनमात्र हैं, अंतिम लक्ष्य नहीं; और यह जानते हुए, इससे आगे अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना चाहिए। स्वामी विवेकानंद, जिन्होंने इस बात का विवेचन 'कर्म के रहस्य' ('The Secrets of Work') नामक पुस्तक में बड़ी स्पष्टता के साथ किया है, वे इस बात को इस तरह से समझाते हैं :

> आपको याद रखना चाहिए कि आत्मा की आज़ादी ही सभी योगों का लक्ष्य है.....सोने की ज़ंजीर भी बांधने के लिये वैसी ही है, जैसे की लोहे की। मेरी अंगुली में काँटा लगा हो और मैं उसे निकालने के लिये दूसरे काँटे का उपयोग करता हूँ और काँटा निकालने के बाद, मैं दोनों को एक ओर फेंक देता हूँ.....इसी प्रकार बुरी प्रवृत्तियों का प्रतिकार अच्छी आदतों द्वारा करना होगा और मन पर पड़े बुरे संस्कारों का निराकरण इसी तरह अच्छे संस्कारों की ताज़ी लहरों द्वारा करना चाहिए, जब तक सारी बुराइयों की समाप्ति या उनका दमन न हो जाये। इस प्रकार जो 'अनुरक्त' है, वह 'अनासक्त' हो जाता है।

3. *आसन*

'आसन' *शब्द से तात्पर्य है, यौगिक साधना के निष्पादन में बैठने का आसन (seat), शारीरिक अवस्था (position) या मुद्रा या ठवन (posture) । यौगिक साधना में यह एक और बाह्य साधन है। आसन स्थिर, दृढ़, सुखद तथा आरामदेह होना चाहिए, ताकि यौगिक अनुशासन के दौरान शरीर निश्चल, किन्तु चौकन्ना रहे।*

श्वेताश्वतर उपनिषद् (II:8) में कहा गया है :

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयानकानि।।

(छाती, गर्दन व सिर- ऊपर के इन भागों को सीधा रखकर, मनसहित इंद्रियों को हृदय में समाहित कर, विवेकवान व्यक्ति ब्रह्म के बेड़े पर सवार होकर, संसार-सागर के सभी प्रचंड प्रवाहों को पार कर जाता है)

इसी प्रकार, श्रीमद्भगवद्गीता में योग-साधना के लिये बैठने का तरीक़ा इस प्रकार बताया गया है :

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

– श्रीमद्भगवद्गीता (VI:11-14)

(साधक साफ़-सुथरे स्थान पर ऐसे आसन पर बैठे, जो न बहुत ज़्यादा ऊँचा, न बहुत ज़्यादा नीचा हो, जिस पर क्रमशः कुशा अर्थात् घास के आसन के ऊपर मृगच्छाला अर्थात् हिरण की खाल का आसन तथा उसके ऊपर कंबल या चादर आदि कपड़ा बिछा हो। वह ऐसे आसन पर बैठकर, मन-इंद्रियों को क़ाबू करके, चित्त एकाग्र करके आत्म-शुद्धि के लिये, अंतर्मुख होकर योग साधना में विधिपूर्वक प्रयास करे। जिस्म, सिर व गर्दन को संतुलित व स्थिर रख कर, इधर-उधर देखे बिना, नाक के अग्रभाग को टकटकी लगाकर देखता रहे। सुरत को शांत कर, भयरहित होकर, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हुआ, मन को नियंत्रित करके, चित्त को मुझ में समाहित करके साधक मेरे परायण होकर बैठे।)

'आसन' का शाब्दिक अर्थ है– सुखद व आरामदेह बैठने की स्थिति या मुद्रा। पतंजलि ने अभ्यास पर बैठने के लिये एक आसान एवं सुखद आसन बताया है। योगदर्शन में वे कहते हैं :

स्थिरसुखमासनम्।

– योगदर्शन (II:46)

वही आसन सर्वोत्तम है, जिसमें योग का साधक लंबे समय तक, एक साथ 2-3 घंटे लगातार बिना हिले-डुले, बिना किसी विशेष प्रयत्न के,

सहजता व आसानी से बैठ सके। इसका उद्देश्य यही है कि कोई शारीरिक प्रतिक्रिया इस समय न हो और मन जाकर ध्यान में लीन हो जाये। आसन की स्थिरता तन को स्थिरता प्रदान करती है, और फिर इससे मन की स्थिरता बनती है। सैद्धांतिक रूप से मान्यता यह है कि संसार में जितनी योनियाँ हैं, उतने ही प्रकार के आसन हैं और इस तरह से वे 84 लाख हो जाते हैं। किन्तु, इनमें से 84 मुख्य हैं और उनमें से चार आसन ऐसे हैं, जो आमतौर पर बुनियादी और बहुउपयोगी माने जाते हैं :

***1.* सुख-आसन** : *इसका अर्थ है– आसान व आरामदेह मुद्रा, क्योंकि इस आसन का अभ्यास सुखकर होता है। इसमें मात्र बायें पैर के पंजे को दाँयी जंघा के नीचे दबाकर पालथी मार कर बैठना होता है और प्रत्येक हाथ के अंगूठों व उसके साथ वाली उंगुली (तर्जनी) के सिरों को आपस में वृत्ताकार मिलाकर दोनों खुले हाथ घुटनों पर रखते हैं।*

***2.* सिद्ध-आसन** : *इस शब्द का तात्पर्य है- एक अनुशसित मुद्रा या पूर्णत्व और कार्यसिद्धि की मुद्रा। इसमें पालथी मारकर उपर्युक्त सुखासन के अतिरिक्त साथ-साथ दाहिने पाँव को बांई टाँग के अग्रभाग के ऊपर इस तरह रखते हैं कि एड़ियाँ भगस्थियों पर टिकी हों और जननेन्द्रियों (उपस्थ) पर कोई दवाब न पड़े तथा हथेलियाँ एक-दूसरे के ऊपर टिकी हों। सिद्धियों अथवा यौगिक शक्तियों की प्राप्ति के लिये यह बहुत उपयोगी है, इसीलिये इस आसन का नाम 'सिद्धासन' है। ताज़े ख़ून के परिसंवरण से यह शरीर की शिराओं और धमनियों को शुद्ध कर देता है। यह दिल तथा फेफड़ों को मज़बूत बनाता है, श्वासक्रिया को गहरा व मंद करता है, पाचनतंत्र को नियंत्रित करता है और सर्दी बुख़ार तथा हृदय विकारों जैसी बीमारियों को ठीक करता है।*

***3.* पद्म-आसन** : *नाम के अनुरूप ही यह कमल जैसी मुद्रा वाला आसन है। इस आसन में पाँव, एक-दूसरे के ऊपर हो जाने से कमल की पखुड़ियों का आकार बनाते हैं। जिनके शरीर में जोड़ अनम्य हो गये हों, उन के लिये यह कठिन पड़ता है, लेकिन हठ-योग के अभ्यास के लिये यह आसन अत्यंत आवश्यक है। यह 'आनन्द आसन' के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि यह शांति व आनन्द का पूर्वानुभव प्रदान करता है तथा व्यक्ति को ध्यानाभ्यास के लिये प्रेरित करता है। यह इसके अभ्यासी को सभी*

रोगों व बीमारियों से छुटकारा देता है और ज़हरीले पदार्थों और वनस्पति विषों द्वारा उत्पन्न शारीरिक विकारों से तन को मुक्त कर देता है। यह इन्सान को आलस्य, सुस्ती और दिमाग़ी कमज़ोरी से छुटकारा दिलाता है।

4. **स्वस्तिक-आसन (शुभ व मंगलकारी मुद्रा)** : *इसमें घुटनों और जंघा के बीच, दोनों पाँवों को भली प्रकार फँसा कर कंठ, मस्तक और देह को समान भाव से धारण किए रहना होता है। नियमित अभ्यास से यह सिद्ध होता है। यह सौभाग्यवर्धक तथा शुभ आसन है तथा अपने नाम के अनुरूप इसमें सभी गुण हैं।*

आध्यात्मिक उन्नति के उद्देश्य से सुख या सिद्ध आसन अधिक उपयुक्त रहते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ और जाने-माने आसन पशु-पक्षियों की मुद्राओं की नक़ल करके बनाये गये हैं और उनके नाम भी वैसे ही रखे गये हैं- जैसे गोमुख-आसन (गो-मुद्रा), सिंह-आसन (सिंह-मुद्रा), वज-्रासन (वज्र-मुद्रा), हल-आसन (हल-मुद्रा), शीर्ष-आसन (सिर के बल की मुद्रा), सर्वांग-आसन (कन्धों के बल खड़े होने की मुद्रा), धनुर्-आासन (धनुष मुद्रा), शव-आसन (शव-मुद्रा), मर्कट-आसन (बंदर-मुद्रा), मयूर-आसन (मोर-मुद्रा), कुक्कुट-आसन (मुरगा-मुद्रा), गरुड़-आसन (गरुड़-मुद्रा), उष्ट्र-आसन (ऊँट की मुद्रा), वातायन-आसन (घोड़े की मुद्रा), भुजंग-आसन (फणिधर नाग की मुद्रा), शलभ-आसन (टिड्डी की मुद्रा), पादहस्त-आसन, त्रिकोण-आसन, वृक्ष-आसन (पेड़ की मुद्रा) इत्यादि। इससे मानव-मस्तिष्क की उदारता प्रकट होती है कि वह पशु-पक्षी व अन्य वस्तुओं से भी कुछ न कुछ सीखने का इच्छुक रहता है।

आसन- योग के एक प्रकार के रूप में

कुछ लोग आसनों को स्वयं में एक योग का प्रकार समझते हैं और उसको 'आसन-योग' का नाम देते हैं। परन्तु यह केवल मात्र शारीरिक करतबों को दिखाने के लिये प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए, जैसा कि कुछ व्यायामी (gymnast) करते हैं और न ही आजीविका कमाने के साधन के तौर पर। यह योग इस अर्थ में है कि बिना एक अनुशासनबद्ध आसन के, मन-मानस की अगाध झील (चित्त) में लगातार उठती रहने वाली

चित्तवृत्तियों पर नज़र रखने तथा उनका उन्मूलन और निष्कासन करने का कार्य नहीं किया जा सकता। योग-प्रणाली को प्राय: दो भागों में बाँटा जाता है : 'प्राण-कला' अर्थात् प्राणों का मार्ग और 'चित्त-कला' अर्थात् चित्त का मार्ग। हठ-योग प्राण-कला से संबंधित है, और राज-योग चित्त-कला से। आसन इन दोनों यौगिक प्रणालियों के अनिवार्य अंग हैं और वास्तव में योग की प्रत्येक शैली की, चाहे वह कोई भी हो, ये आवश्यक साधनायें हैं। 'धारणा' व 'ध्यान' की तरह, जो योगाभ्यास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण बहुधा 'धारण-योग' तथा 'ध्यान-योग' के नाम से अलग से वर्गीकृत किए जाते हैं, आसनों को भी इनके महत्त्व के कारण अपने आप में एक योग-प्रणाली का दर्जा दिया गया है।

साधना के समय यह ज़रूरी है कि शरीर को काफ़ी लंबे अर्से (तीन घंटे तक) एक ही अवस्था में बिना हिलाये-डुलाये स्थिर रखा जाये, क्योंकि लगातार आसन बदलने से यौगिक अभ्यास में सफलतापूर्वक नहीं लगा जा सकता, क्योंकि बैठक में लगातार बदलाव के साथ वृत्तियाँ भी चलायमान हो जाती हैं और इसलिये मन कभी स्थिर व शांत नहीं हो पाता। अत: एक दृढ व स्थिर आसन की ज़रूरत है, जोकि आसान व आरामदेह हो, ताकि चित्तवृत्तिनिरोध: (मानसिक तरंगों के समापन) के समय में अभ्यासी थकान या उचाट महसूस न करे।

आसनों के लाभ

मन को क़ाबू करने के साधन होने के साथ-साथ, आसन-सिद्धि के अनेक लाभ हैं, जोकि निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किए जा सकते हैं :

1. शारीरिक लाभ :

क. माँस-पेशी और धमनी तंत्र सुचारु रूप से कार्य करने लगती हैं।

ख. समस्त शरीर स्वास्थ्य, बल व कांतिमय ओजस्विता से परिपूर्ण हो जाता है।

ग. शरीर में नाभी-केंद्र तथा पाचन तंत्र की ऊष्मा की आपूर्ति पूरी तरह से होती है, जिससे पाचन-क्रिया को सहायता मिलती है।

घ. प्राण अर्थात् प्राण-वायु का कार्य सुव्यवस्थित और लयात्मक ढंग से आरंभ हो जाता है।

च. *निर्भीकता, सहनशक्ति और संकल्पशक्ति अपने आप ही आ जाती हैं।*

छ. *शरीर पर नियंत्रण प्राप्त होता है और थकान, विषाद व गिरावट कभी महसूस नहीं होती।*

ज. *आंतरिक आनन्द और प्रफुल्लता की अनुभूति से चेहरे की चमक व रौनक़ बढ़ जाती है।*

2. मानसिक लाभ :

क. *मन स्थिर व सुनिर्दिष्ट हो जाता है तथा एकाग्र-चित्त होकर काम करने की आदत पड़ती है।*

ख. *मानसिक ताज़गी।*

ग. *शीघ्र-बोध व दृष्टि की स्पष्टता प्राप्त होती है।*

घ. *कल्पनाशक्ति का विकास होता है और ध्यान को केन्द्रित करने में मदद मिलती है।*

च. *गूढ़ आध्यात्मिक समस्याओं पर गहन एवं संकेन्द्रित ध्यान से सोचने की आदत पड़ जाती है।*

3. आध्यात्मिक लाभ :

क. *शरीर की स्थिरता से उत्पन्न, शारीरिक चेतना के अवगमन से साधक धीरे-धीरे द्वन्द्वों (दो विरोधी भावनाओं)– जैसे, भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी, राग-विराग आदि से ऊपर उठता चला जाता है।*

ख. *तमोगुण (जड़ता, inertia) तथा रजोगुण (बेचैनी की अवस्था, restlessness) को आसानी से पार कर लेता है और सतोगुण (शांति व साम्यावस्था, peace and equipoise) की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।*

ग. *अपनी साधना (रूहानी अभ्यास) में बिना किसी थकान के निरन्तर प्रगति करता जाता है।*

संभाव्य विघ्नों व दुष्प्रभावों से साधक को सुरक्षित रखने के लिये प्रायः कुछ सावधानियों बरतने की सलाह दी जाती है। आसनों का अभ्यास अकेले में करे, ताकि वे कभी भी लोगों की प्रशंसा के लिये अपनी प्रवीणता के प्रदर्शन का माध्यम न बनें। यह भी वांछनीय है कि वह आग की नज़दीकी, स्त्रियों की संगत, अनुचित मित्रों या अन्य ऐसी चीज़ों से,

जिनसे उसके शरीर या मानसिक संतुलन को हानि का डर हो, दूर ही रहे। उसे अधिक खान-पान या उपवास रखने से दूर रहना चाहिए, क्योंकि एक शरीर पर बोझ डालता है और कार्य-शक्ति को विचलित करता है और दूसरे से जीवन-शक्ति या ओजस्विता को क्षति पहुँचती है। इसी कारण से भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को मध्यम-मार्ग की शिक्षा दी, जैसा कि उन्होंने अपने पहले धर्मोपदेश में कहा था :

विषयासक्ति शक्तिह्रासक है, असंयमी मनुष्य अपनी वासनाओं का दास हो जाता है, और भोगों-रसों में आनन्द की खोज करना अवमानक और अशिष्ट है।

और,

आत्म-संतापन से क्षीण हुआ साधक अपने मस्तिष्क में उलझनों और अस्वस्थ विचारों को जन्म देता है। घोर तप सांसरिक ज्ञान प्राप्ति के लिये भी सहायक नहीं है, तो फिर इसके द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति की क्या संभावना है?

'स्वर्णिम मध्य मार्ग का नियम', जो सब पर लागू होता है, व्यायाम पर भी लागू होता है। समझदार साधक न तो अपनी शक्तियों को अत्यधिक थकान वाले व्यायामों, जैसे कि वज़न उठाना, दौड़ लगाना, ऊँची व लंबी कूद आदि में नष्ट करेगा और न ही वह सुस्त पड़े रह कर उन्हें नष्ट करेगा। संक्षेप में, संतुलन और सादग़ी उसके जीवन के आदर्श-वाक्य होने चाहिए। जो लोग हठ-योग या प्राण-योग में महारत हासिल करने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे भी अपने दैनिक रहन-सहन में निम्नलिखित बातें निर्धारित करते हैं :

क. *साधारण स्तर पर एकान्त स्थान।*

ख. *प्राकृतिक मनोरम दृश्यों और हरियाली के मध्य एक छप्पर डली कुटिया, यदि वर्गाकार हो तो ज़्यादा अच्छा हो।*

ग. *इसमें बैठने के लिये ईंटों या लकड़ी का चबूतरा या तख़्त हो।*

घ. *बैठने का आसन ताड़ या खजूर के पत्तों अथवा सूखी घास और ऊन के आवरण या मगृच्छाला से ढका हो।*

च. *स्थान ऐसा चुना जाना चाहिए कि पूरे साल वहाँ सदा एक जैसी समशीतोष्ण जलवायु हो।*

आध्यात्मिक साधना के लिये यदि (पहाड़ या ज़मीन के अन्दर) गुफा भी चुननी हो, तो इन सभी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

छ. *खान-पान में अति सतर्कतापूर्वक नियंत्रण रखना चाहिए, अधिमानतः दिन में एक बार दलिया लिया जाये।*

ज. *बाहर के किसी व्यक्ति को उस पवित्र स्थान को अपना अड्डा बनाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए।*

घेरंड-संहिता में, जोकि योग-विद्या का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है, आसनों तथा तत्सम्बंधी अन्य अभ्यासों, जैसे 'मुद्राओं' व 'बंधों' आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। 'मुद्रायें' शरीर की अचल अवस्थायें हैं, जबकि 'बंध' जकड़ी अवस्थायें हैं। पहली तो तत्वतः मन-शरीर सम्बंधी हैं, इसलिये उन्हें भाव-भंगिमायें (*gestures*) *कहते हैं तथा दूसरी मात्र शरीर सम्बंधी हैं और सिर्फ़ शरीर की माँस-पेशियों के संकुचन* (*muscular contractions*) *हैं, जोकि प्राणवायु को विशेष स्थान पर रोक रखने के लिये एक अड़ानी की तरह प्रयुक्त होते हैं।*

मुद्राओं की संख्या काफ़ी है और बंध केवल थोड़े से ही हैं। प्रसिद्ध मुद्रायें निम्नलिखित हैं :

1. महामुद्रा (महान-भंगिमा), 2. महाबन्ध, 3. महावेध, 4. उरज्ञान-उद्ल्यम, 5. खेचरी (आकाश में विचरना), 6. वज्रोली, 7. जलन्धर 8. मूलबन्ध, 9. विपरीतकरणी (सौवंग), 10. शक्तिचालनी या पृथ्वी, शाम्भवी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी, जोकि क्रमशः पाँच तत्वों– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश से संबंधित हैं। इनके अतिरिक्त, दूसरी अन्य भी– जैसे, नभोमुद्रा, योनि, माण्डुकी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी, अश्विनी इत्यादि भी हैं। अन्य मुद्रायें, जो यहाँ नहीं गिनाई गई हैं, उन्हें इनका ही रूपांतर समझना चाहिए।

इनमें से कुछ के बारे में सरसरी तौर पर चर्चा करते हैं:

***1.* अश्विनी-मुद्रा** : *जैसा कि इसके नाम से ही संकेत मिलता है, इसमें मलायश (rectum) की माँस-पेशियों का बारी-बारी क्रमशः, गहरे*

अन्त:श्वास और प्रश्वास द्वारा बाहर की ओर विस्तरण और अन्दर की ओर संकोचन किया जाता है, जैसा कि मल त्याग करने के बाद घोड़ी करती है। यह क्रिया अंतड़ियों, बड़ी आँत और पेट की भित्तियों को साफ़ करने और विषैली वायु बाहर निकलने में सहायता करती है।

***2.* वज्रोली-मुद्रा** : *इसमें जननेन्द्रियों की आंतरिक सफ़ाई की जाती है, पहले कैथेटर नली से ऑक्सीजन भेज कर वायु-स्नान द्वारा, फिर उन अंगों की किसी हल्की रोगाणुनाशक दवा मिले पानी से सिंचाई की जाती है। यह काम न्यौली की विधि से अथवा स्प्रेयर (sprayer) या डूशे (douche) द्वारा किया जाता है। इस क्रियाविधि की पराकाष्ठा में अभ्यासी को उनके स्खलन को रोककर वीर्यादि का पुन: जनन तंत्र में समावेश करना होता है।*

***3.* खेचरी-मुद्रा** *(movement in the void)*: *इसमें जिह्वा को उल्टा मोड़ कर उसे बिल्कुल अन्दर कंठ पर दबाया जाता है। अभ्यासकर्त्ता प्राय: अपनी जीभ को, साँप की जीभ की भांति, काँटे की तरह विभाजित करा लेता है। ये द्विशासित जिह्वायें फिर दूध, घी और राख मिश्रित घोल से धोई जाती हैं। साधक प्राणिक क्रिया से पिछले दोनों नासाछिद्रों को द्विशासित जिह्वा से बंद कर लेता है तथा कितने ही दिनों तक इस अवस्था में लीन रहता है। साँप या कछुए की तरह इस अचेतन अवस्था में लंबे समय तक बना रह सकता है— यहाँ तक कि वह बिना दूसरों की बाहरी सहायता के अपने आप वापस होश में नहीं आ सकता। यह सारी क्रिया बड़ी जटिल है और बिना किसी निपुण योगी की सहायता के साधारण जन इसका अभ्यास नहीं कर सकते। जैसा कि इसका नाम सूचित करता है, इसमें मन 'खे' या आकाश में लय रहता है और जिह्वा गलकूप की रिक्ति में।*

परन्तु इस प्रकार की समाधि वास्तविक समाधि नहीं है, क्योंकि वास्तविक समाधि से तो साधक ब्रह्मांडिक और परा-चेतना अवस्था का अनुभव प्राप्त करके जगता है। यह मात्र एक तरह की भाव-समाधि की अवस्था है, जिसमें चेतना स्वयं ही लुप्त हो जाती है। यह असली योग का उद्देश्य नहीं है, जिसका लक्ष्य 'चैतन्य समाधि' है, जो ऐसी 'जड़-समाधि' से बिल्कुल भिन्न है। हठ-योगी इस मुद्रा के अभ्यास से प्राणों को सहस्रार में खींच कर अपने आपको बक्से में बंद कर सकता है और वह बक्सा महीनों तक ज़मीन के अन्दर दबा पड़ा रह सकता है। इस प्रकार की

जड़-समाधि से किसी भी अंतेन्द्रिय ज्ञान, प्रज्ञा और बोध की प्राप्ति नहीं होती। जोकि पूर्ण जागृति या चैतन्य-समाधि की विशेषता है। यह तभी प्राप्त होती है, जबकि चेतना की शक्ति अपने वास्तविक प्रकृति में प्रतिष्ठित जाती है। इस चैतन्य समाधि का यथेच्छ समापन भी किया जा सकता है। यह 'कैवल्यावस्था' है, जोकि ब्रह्मांडीय तथा पार-ब्रह्मांडीय जीवन के साथ पूर्ण सामंजस्य की अवस्था है और जोकि इस पत्थर के समान जड़ (inert) अवस्था से बिल्कुल भिन्न है।

एकाग्रता को विकसित करने के लिये, निम्न मुद्राओं का अभ्यास किया जा सकता है :

***1.* अगोचरी-मुद्रा *(the imperceptible gesture)*:** *इसमें नाक के अग्रभाग पर ध्यान को केन्द्रित करके आसन पर बैठना होता है।*

***2.* भूचरी-मुद्रा *(the gesture of the void)*:** *इसमें शून्याकाश में ध्यान स्थिर करना होता है, जोकि नासाग्र से चार अंगुल नीचे और जहाँ तक साँस की हवा बहती है, स्थित है।*

***3.* चाचरी-मुद्रा *(the gesture of the black bee)*:** *इसे चाचरी– 'काली मक्खी की मुद्रा' इसलिये कहते हैं, क्योंकि इसमें दोनों आँखों के पीछे काले बिन्दु पर मन को केन्द्रित करना होता है।*

'प्राणायाम' या साँस पर नियंत्रण रखने का अभ्यास करते समय 'उन्मनी-मुद्रा' या 'केवल-कुभंक' का अभ्यास किया जा सकता है। दूसरी, नशे जैसी स्तब्धता की अवस्था है, जबकि पहली शांतिपूर्वक विश्राम की है।

इसके अतिरिक्त, जीवन-शक्ति पर नियंत्रण करने के लिये कुछ आसनों को करते समय कुछ माँस-पेशियों के सिकुड़न या बंधों का अभ्यास करना पड़ता है। इन्हें पारिभाषिक भाषा में 'बन्ध' कहते हैं। प्राणायाम के अभ्यास में ये विशेषकर आवश्यक हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्व के निम्नलिखित बंध हैं :

***1.* मूल-बन्ध *(contraction of the basal plexus)*:** *इसके द्वारा 'अपान-वायु' या निःसर्जन शक्ति (excretory energy) को रोक कर, वापस ऊपर की तरफ़ 'प्राण-वायु' के क्षेत्र की ओर खींचा जाता है और इस प्रकार 'प्राण' का 'अपान' से अर्थात् श्वसन शक्ति का उत्सर्जन शक्तियों से संयोग*

हो जाता है। इसे करने के लिये पाँव की एड़ी द्वारा गुदा पर दवाब डाल कर साँस तेज़ी से अन्दर की ओर खींचा जाता है (इससे मल-मूत्र द्वार रुकने से तन में नीचे मूल में एक बन्ध सा लग जाता है, जिससे देर तक आसन लगा रहता है। यह मूलबंध– योग के तीन मुख्य बन्धों में पहला है, जो नीचे की तरफ़ बहने वाला प्राण, अपान तथा चेतना के प्रवाह को मूलस्थान पर रोकता है)।

2. जालन्धर-बन्ध *(contraction of the neck plexus)*: *इसमें कंठ-चक्र का संकोचन-सिकुड़न होता है, जहाँ सभी नाड़ियों के जाल मिलते हैं। इसमें ठोड़ी को हँसली के गड्ढे में दबा कर लगाना होता है। इस से सहस्रार-चक्र से झड़ने वाला अमृत नाभि-स्थान की अग्नि में ख़र्च होने से बच जाता है।*

3. उड्डीयान-बन्ध *(contraction of the navel muscles)*: *इसमें साँस निकाल कर नाभि-केन्द्र की माँस-पेशियों का अन्दर को संकोचन किया जाता है, ताकि स्वसन-प्रश्वसन के दौरान पेट तथा फेफड़ों को सहारा दिया सके। इससे सूक्ष्म नाड़ियों में भी प्राणवायु बहने लगती है। इसलिये इसे उड्डीयान– उड़ता हुआ संकोचन कहा जाता है।*

आसन-सिद्धि - आसनों में निपुणता

आसन-सिद्धि में निपुणता की तीन निशानियाँ हैं :

1. *आसन के दौरान शरीर पूरी तरह से विश्रांत तथा प्रशांत अवस्था में स्थिर रहे और इस के किसी भी भाग में कोई हरक़त न हो।*

2. *साधक देहाध्यास से ऊपर उठ जाये और उसे ज्ञानन्द्रियों और कर्मोन्द्रियों की धाराओं का भी होश न रहे और ये धारायें, बिना इनके बारे में किसी सोच-विचार के, अपने आप कार्य करती रहें।*

3. *अंततः, जोकि कम महत्त्व की नहीं, वह यह कि साधक सचमुच प्रसन्नता व परमानंद का रसानुभव अपने अन्तर में करें।*

आसन-सिद्धि एक साल में लगातार, एक से छः घंटे प्रतिदिन नियमित अभ्यास करके प्राप्त की जा सकती है।

पतंजलि के अष्टांग-योग के सर्वेक्षण में आगे बढ़ने से पहले हमें अपने आपको स्मरण कराना आवश्यक है कि आसनों में प्रवीणता और रहन-सहन

में संयम को केवल साधन ही समझना चाहिए, अंतिम लक्ष्य नहीं। साधक को यह नहीं भूलना चाहिए कि शारीरिक व्यायाम आगे के लिये तैयारी है। जिस प्रकार यम-नियमों की आचार-संहिता का उपयोग आंतरिक यात्रा के लिये अपने मन को शुद्ध करने के लिये किया जाता है, उसी प्रकार उसे अपने शरीर और दैनिक जीवन को भी अनुशासित करना चाहिए। फिर अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए, जोकि ब्रह्म के साथ एकाकार होने का है। इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत है, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि किसी कठिन अभ्यास में लगे होने पर, वह प्राय: अंतिम लक्ष्य को भूल ही जाता है और साधन को ही अपना साध्य मान बैठता है। बहुत से योगी ऐसे हैं, जो आसन आदि द्वारा शारीरिक साधना की उन्नति को ही योग का चरम् लक्ष्य मान लेते हैं। ऐसी अवस्थाओं में, आसनों के अभ्यास और आवश्यकताओं में संयम की सफलता आगे तरक़्क़ी व ज़मीन की तैयारी करने की बजाय घमंड और मिथ्याभिमान की भावना को साथ लाती है, जिसका नतीजा होता है– आत्म-तुष्टि और आध्यात्मिक शिथिलता। विवेकी साधक योग की इस शाखा से मूलभूत आवश्यक बात का ज्ञान प्राप्त कर लेगा अर्थात् स्वास्थ्य का रहस्य और ध्यान साधना के लिये श्रेष्ठ आसन। परन्तु वह इस में विशेषज्ञता प्राप्त करने या इसकी बारीक़ियों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेगा, क्योंकि वह जानता है कि साधनों में उलझ जाने का मतलब है- लक्ष्य को भुला देना।

भोजन

'जैसा अन्न, वैसा मन,' यह एक बड़ी पुरानी कहावत है और इसके पीछे एक निर्विवाद सत्य है, क्योंकि यह भोजन ही तो है, जो शरीर और दिमाग़ को बनाता है।

शरीर के सम्पूर्ण विकास में, जैसा कि हठयोग में परिकल्पना की गई है, सात्विक आहार एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और किसी भी यौगिक साधना का अभ्यास बिना किसी थकावट, आलस्य, शिथिलता या निद्रा के करने में सहायक होता है। कुछ ऐसे भोजनों की सूची, जो यौगिक साधना में सहायक अथवा बाधक होते हैं, यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

यौगिक खाद्य-तालिका

योग साधना में सहायक भोज्य–पदार्थ :

1. जौ, काले चने, साबुत हरी मूंग, चावल, तिल, शक्कर (गुड़) दूध और दूध से बने अन्य पदार्थ, मक्खन और घी– सभी परिसीमित मात्रा में।

2. काली मिर्च, बादाम, अदरक, किशमिश, नीबू– परिसीमित मात्रा में।

3. आम, अंगूर, अमरूद, सेब, संतरा, अंजीर, गूज़बैरी, खजूर और आडू इत्या. दि– परिसीमित मात्रा में।

4. खरबूज़, खीरा– अल्प मात्रा में।

5. लौकी काली तोरी, घीया, तोरी, पालक, परवल और स्वर्ण की पत्तियाँ अल्प मात्रा में।

योग साधना में बाधक भोज्य पदार्थ :

1. मोठ, उड़द मसूर, मटर, छिलके वाला चना, गेहूँ, तेल व चिकनाई, फटा हुआ दूध, खट्टा दही, विकृत घी, माँस के सब प्रकार, मुर्गा, अंडे आदि।

2. अन्नानास, लाल मूली।

3. तरबूज़ और ककड़ी।

4. चिचिड़ा, काशीफल, बैंगन, भिंडी, चौलाई का साग़।

5. गर्म मसाले, अचार, मिर्च, काली मिर्च, चटनियाँ और अन्य अम्लजनक उत्तेजक पदार्थ तथा तीखे, कड़वे और खट्टे पदार्थ।

संक्षेप में, ताज़ा और हरी सब्ज़ियाँ, पत्तेदार सब्ज़ियाँ, फल और गिरीदार मेवे, दूध, मक्खन और घी किसी भी मनुष्य के लिये एक आदर्श आहार हैं। एक दिन में तीन बार भोजन करना पर्याप्त से अधिक माना जाता है। यह बात भी ध्यान योग्य है कि ऐसा भोजन जो बासी हो, बहुत ज़्यादा मिर्च-मसाले वाला, अधपका या अधिक पका हो और फल– अधिक पके या अधपके या कटे हुए रखे हों व मिठाई व मिष्ठान आदि– इन सब से दूर रहना चाहिए। इसी तरह वायु-मिश्रित पेय, चाय व कॉफ़ी जैसे उत्तेजक पदार्थ और सभी तरह के नशीले पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

4. *प्राणायाम अथवा यौगिक श्वसन*

जो व्यक्ति प्राणों को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है।

– श्रुति

प्राणायाम की चर्चा करने से पहले प्राण (Vital airs) क्या हैं, उनके विभिन्न प्रकार और शरीर में उनकी क्रियायें, वे कैसे काम करते है तथा उनसे सबंद्ध अन्य बातें– इन सब का ज्ञान होना आवश्यक है। ब्रह्मांड में जो ऊर्जा है, प्रकृति में जो शक्तियाँ विद्यमान हैं, प्राण उन सब का समाहार है। ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत, चुंबकत्व, गुरुत्वाकर्षण इत्यादि– सभी प्राण के अभिव्यक्त रूप है। सम्पूर्ण शक्तियाँ तथा ताक़तें और तमाम प्राण भी, ये सब एकमात्र स्रोत– आत्मा के सरोवर से प्रकट हुए हैं। प्राण-तत्व 'मनस्तत्व' से अधिक उच्च कोटि का है, जिसके विषय में गुरु नानकदेव जी फ़रमाते हैं :

मनि जीतै जगु जीतु।।

– आदि ग्रंथ (जप जी 28, पृ.6)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मनस्तत्व (चित्त) के पीछे चालक शक्ति प्राण की ही है, और इसलिये प्राण का, जोकि ब्रह्मांड की आदि शक्ति है, नियमन और नियंत्रण विशेष महत्त्व का है और अन्य तन-मन सम्बंधी विषयों से कहीं ज़्यादा महत्त्व का है। गौरक्ष-संहिता में कहा गया है कि जो प्राण का रहस्य जानता है, वह योग के रहस्य को भी जानता है, क्योंकि प्राणों के लयात्मक नियमन में ही योग का श्रेष्ठतम व्यावहारिक रूप निहित है।

अपने कार्य के अनुसार प्राण पाँच मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत हैं : प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान।

***1.* प्राण** : *प्राण का सम्बंध श्वसन-तंत्र (respiratory system) से है। यह जीवन का श्वास है और पिंजरे में बंद पंछी की तरह, शरीर तंत्र को जीवन-शक्ति प्रदान करता है। इसका स्थान भ्रू-मध्य में कहा जाता है, जिसे 'चिदाकाश' कहते है, जहाँ तक कि इसके कार्यक्षेत्र का फैलाव है।*

***2.* अपान** : *यह मल-मूत्र उत्सर्जन (excretory system) में सहायता करता है, क्योंकि इसकी प्रवृत्ति नीचे की तरफ़ बहने की है और यह नाभि से नीचे के क्षेत्र में कार्य करती है।*

***3.* समान** : *यह पाचन-तंत्र (digestive system) की सहायता करता है। सारे शरीर में समान रूप से भोजन पहुँचाने के कारण ही इसे 'समान' कहा जाता है। इसका केन्द्र नाभि में है और यह सब ओर फैल कर समस्त शरीर का पोषण करता है।*

***4.* उदान** : *यह निगरण (निगलने) (deglutition) से सम्बद्ध है। इसका नाम इसके ऊपर चढ़ने और साँस को खींचने या नियंत्रित करने के गुण पर है। नाभि और सिर के बीच इसकी गति गोचर है। गर्दन में इसका केन्द्र है और इसकी प्रवृत्ति ऊपर की ओर उड़ने की है।*

***5.* व्यान** : *यह सारे शरीर में रक्तवहन-तंत्र (circulatory system) को चालू रखने में मदद करता है। यह आंतरिक विभाजन और विकीरण पर प्रभाव डालता है। आकाश तत्व की भांति, शरीर भर में व्याप्त होने के कारण ही इसे 'व्यान' कहते हैं।*

इन मूल पाँच प्राणों के अतिरिक्त, पाँच प्रकार के अन्य, अपेक्षत: कम महत्त्व के प्राण भी शरीर में काम करते हैं। ये हैं :

***1.* नाग** : *जो डकार लेने में मदद करता है।*

***2.* कूर्म** : *जो आँखों से सम्बंधित है और पलक झपकने में काम आता है तथा निद्रा उत्पन्न करता है।*

***3.* कृकर** : *जो चेहरे की माँस-पेशियों के अन्दर व्याप्त रहता है और छींक लेने मैं बाहर फैल जाता है।*

***4.* देवदत्त** : *जो जंभाई लाता है और मन्द निद्रा में पहुँचा देता है।*

***5.* धनंजय** : *जो परिपचन के कार्य से संबंधित है।*

ये प्राणाधार वायु त्वचा, हड्डियों, माँस-पेशियों, स्नायुओं, अस्थिबंधों इत्यादि में विद्यमान रहते हैं।

तन्तु-जाल और चक्र

जहाँ कहीं भी कई नसें, धमनियाँ और नाड़ियाँ एक दूसरे से लिपटकर केन्द्र बनाती हैं, उस स्थल या केन्द्र का एक 'तन्तु-जाल' कहा जाता है। इसी तरह के केन्द्र प्राणशक्तियों के भी हैं, सूक्ष्म-नाड़ियों में और इन्हें 'चक्र' या 'पद्म' कहा जाता है। ये नाड़ियाँ सूक्ष्म नलियाँ है और सूक्ष्म तत्व द्वारा निर्मित हैं और सूक्ष्म प्राणों के लिये पथ का काम करती हैं, जिनमें से होकर प्राण सूक्ष्म शरीर में क्रियाशील होते हैं। इन मार्गों की भूमिका ठीक ऐसी ही होती है, जैसी नसों, धमनियों और नाड़ियों की स्थूल शरीर में। ये सभी सूक्ष्म नलियाँ या नाड़ियाँ कन्द से निकलती हैं अर्थात् उस केन्द्र से जहाँ सुषुम्णा नाड़ी, मूलाधार-चक्र से रीढ़ के मूल पर आ कर मिलती है। इन सभी नाड़ियों में इडा, पिंगला और सुषुम्णा (या सुखमना) सबसे ज़्यादा महत्त्व की है– ये तीनों नाड़ियाँ रीढ़ की हड्डी के भीतर हैं। इडा तथा पिंगला, सुषम्णा नाड़ी के क्रमशः बायीं तथा दाहिनी ओर स्थित हैं। इडा नाड़ी (चन्द्र-नली) बायें नथुने में से होकर तथा पिंगला नाड़ी (सूर्य-नली) दाहिने नथुने में से होकर प्रवाहित होती है। साँस आमतौर पर दोनों नथुनों में से बारी-बारी से दो घंटे तक बहता है, किन्तु जब यह सुषुम्णा (अग्नि-नली) में से प्रवाहित होता है, तो चित्त स्थिर हो जाता है। यह स्थिर अवस्था या 'उन्मनी अवस्था'– जैसा कि इसे कहा जाता है– राज-योग की सब से ऊँची अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में ध्यान आश्चर्यजनक रूप से एकाग्र होता है। नाड़ियों की शुद्धि के लिये प्राणायाम का अभ्यास ज़रूरी है, क्योंकि उन में मल होने से साँस मध्य नाड़ी से नहीं गुज़र सकता।

स्थूल शरीर की नाड़ियों में स्थूल-प्राण बहता है और सूक्ष्म नाड़ियों के भीतर सूक्ष्म-प्राण चलता है। स्वास-प्रश्वास की जो प्रक्रिया है, वह स्थूल-प्राण की अभिव्यक्ति का बाह्य परिणाम है।

स्थूल (gross) और सूक्ष्म (subtle) प्राणों का आपस में बहुत ही नज़दीकी और घनिष्ठ सम्बंध है। यदि चित्त और प्राण– दोनों का स्पंदन रुक जाये, तो कोई भी विचार तंरग उत्पन्न ही नहीं होगी।

... अथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥
...प्राणों ह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥

– छांदोग्य उपनिषद् (V:1,14, 15)

(मन प्राणों के माध्यम से गतिशील होता है। प्राणों से ही समस्त जीवन अग्रसर होता है।)

जब प्राण शरीर त्याग देता है, तो उसके सभी अवयव अपना काम बंद कर देते हैं, क्योंकि शरीर में प्राण से बढ़कर अन्य कोई शक्ति नहीं है।

प्राणायाम- प्रारम्भिक अभ्यास-क्रियायें

हठयोग-प्रदीपिका में यौगिक श्वसन क्रिया (श्वास-प्रश्वास) पर बहुत ज़ोर दिया गया है, क्योंकि "साँस-साँस में ही सारा जीवन विद्यमान है," और यह भी कहा गया है कि, "जो आधी साँस लेता है, वह आधा जीवन जीता है।" इसलिये हमें वायु-क्षुधा को बढ़ावा देना चाहिए। हिप्पोक्रेटेस (Hippocrates) का कथन है कि प्राण-वायु ही जीवन का वास्तविक तथा आवश्यक भोजन है। गहरा साँस लेना आत्म-शिक्षण का एक महान सकारात्मक साधन है और यह स्वास्थ्य, यौवन तथा आयु-दीर्घता बनाये रखने में सहायक होता है। गहरे साँस लेने का सचेतन अभ्यास श्वसन-तंत्र के लिये एक अच्छा व्यायाम है, जिससे शरीर में मुक्त रक्त-संचार सुनिश्चित होता है। श्वसन प्रक्रिया में बारी-बारी से हवा को अन्दर खींचने व बाहर निकालने से फेफड़े फैलते तथा सिकुड़ते हैं और इन क्रियाओं को क्रमशः 'श्वसन' (inhalation-inspiration) व 'प्रश्वसन' (exhalation-expiration) कहते हैं। इन दोनों के बाद अन्दर व बाहर थोड़ा विराम होता है, इस प्रकार प्राणायाम की चार प्रक्रियायें हैं : 'पूरक' या अन्दर की ओर साँस खींचना (inhalation), 'अन्तर-कुंभक' या अन्दर की ओर साँस रोके रखना (retention within) और 'रेचक' या साँस बाहर निकालना (exhalation). और तत्पश्चात् 'बाह्य-कुंभक' या 'शून्यक' (expiration pause) अथवा साँस को बाहर रोके रखना। दोनों नथुनों से यह क्रिया बहुत धीरे-धीरे की जा सकती है और इसे दस या बीस बार सवेरे-शाम, लगभग तीन मास तक करना चाहिए। पूरक तथा रेचक से शुरू करके, कुछ समय बाद दूसरी

दोनों प्रक्रियायें- अन्तर व बाह्य कुंभक, जिनमें कुछ क्षणों के लिये साँस बंद करके रोका जाता है, जोड़ दी जा सकती है। अभ्यास और लगातार प्रयास से यौगिक प्राणायाम में निपुणता प्राप्त की जा सकती है। साँस को अन्दर खींचने या बाहर निकालने के पश्चात इच्छानुसार रोक रखने को 'कैवल्य-कुंभक' कहा जाता है।

सुखपूर्वक प्राणायाम

पद्मासन या सुखासन में बैठ कर, दाहिनी नासिका को दाहिने अंगूठे से बंद करके, बांये नथुने से धीमी लयात्मक गति से एक ही लम्बी व अखंडित निःश्वसन में साँस बाहर निकालते हैं। इसके बाद, बायें नथुने को भी दायें हाथ की कनिष्ठा या अनामिका उंगुली से बंद करके, बाह्य-कुंभक को जितनी देर बिना किसी असुविधा के सम्भव हो बनाये रखें। इसके बाद साँस को अन्दर की ओर, अत्यन्त ही धीरे-धीरे, दाये नथुने से अंगूठे को हटाकर खींचें तथा उसके बाद फिर अन्तर-कुंभक करें। तत्पश्चात्, इसके पश्चात् क्रम उल्टा कर दें। इस तरह से ये आठ प्रक्रियायें मिलकर एक प्राणायाम बनाती हैं। सुबह व शाम को ख़ाली पेट पाँच से दस तक प्राणायामों से शुरू करके धीरे-धीरे इन्हें बीस तक बढ़ायें और साथ-साथ, बिना कोई असुविधा के, कुंभक (साँस रोकने) की अवधि को भी बढ़ाये। प्राणायाम करते समय यह सोचते जायें कि साँस अन्दर भरते समय तमाम 'दैवी-सम्पदायें' (नियम)- जैसे दया, करुणा, शांति व आनन्द शरीर के अन्दर समाती जा रही हैं और इसी तरह, 'आसुरी-सम्पदायें' (यम)- जैसे क्रोध, काम, लोभ, स्वार्थपूरता इत्यादि अवगुण, साँस बाहर निकालते समय शरीर से बाहर निकाल फेंके जा रहे हैं। प्राणायाम के साथ यदि कोई सुमिरन (प्रभुनाम का स्मरण) भी करना चाहे, तो उत्तम रहेगा।

प्राणायाम की उच्चतर अवस्थाओं में प्राण सुषुम्णा नाड़ी में चढ़ जाता है और सहस्रार की ओर बहने लगता है। पहले-पहल प्राण की गति का अहसास चींटी के रेंगने की तरह होता है, और फिर धीरे-धीरे बढ़ कर मेंढक की चाल की तरह से उछलता हुआ तथा सतत् अभ्यास द्वारा नाड़ी की सफ़ाई और शुद्धिकरण के साथ यह पक्षी की तरह उड़ने लगता है।

श्वास-नियंत्रण की विभिन्न प्रणालियाँ हैं : उदाहरणार्थ,

__1.__ दोनों नथुनों से साँस बाहर निकालना और अन्दर खींचना तथा इसे कुभंक करने के साथ जोड़ना।

__2.__ किसी भी एक नथुने से साँस अन्दर खींचना और बाहर निकालना तथा उसके बाद कुभंक करना। इसे (दाँयी व बाँयी और से करने पर) क्रमशः 'सूर्य-भेदन' और 'चंद्र-भेदन' कहा जाता है।

__3.__ बारी-बारी एक साथ दोनों नथुनों से साँस को अन्दर खींचना तथा केवल एक समय पर एक नथुने से उसे बाहर निकालना।

4. **शीत्कारी** *तथा* **शीतली** : *ये होंठों को गोलाकार में फुलाकर वायु-पान करने तथा उसे चूसने के लिये दो तरीक़े है। इनमें दोनों नथुनों को बंद करने के बाद, जीभ पर से गहरी साँस खींचनी होती है तथा वायु को कुछ गहराई में रोक कर इसे बाद में नाक से बाहर निकालना होता है। यह प्राणावायु को कौवे की चोंच द्वारा पीने के समान है।*

5. **भस्त्रिका** : *इसमें एक समय में साँस एक नथुने से जल्दी-जल्दी अन्दर भरना होता है और दूसरे छिद्र से अंतिम साँस धीरे-धीरे निकालना होता है, तथा इसी तरह से, विपरीत क्रम से करना होता है। फिर इसे बारी-बारी करते हैं। यह धौंकनी की तरह काम करता है और जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। इसीलिये इसे 'भस्त्रिका' (धौंकनी जैसी साँस लेना) कहते हैं।*

जो लोग सत्य, ब्रह्मचर्य, संयम, मिताहार, विनम्रता और धैर्य का पालन करते हैं, जिन्हें कोई लत नहीं है तथा इससे भी ज़रूरी, जो हृदय व फेफड़ों के रोग तथा अन्य जन्मजात रोगों से रहित हैं, वही किसी गुरु या इस विधि के विशेषज्ञ के मार्गदर्शन में सफलतापूर्वक लाभ उठाते हुए प्राणायाम का अभ्यास कर सकते हैं।

प्राणायाम की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कुंडलिनी की सर्पिल (साँप की भांति साढ़े तीन बल वाली) ऊर्जा को, जोकि साधारणतया रीढ़ की जड़ में मूलाधार केन्द्र में प्रसुप्तावस्था में पड़ी रहती है, जागृत कर पूर्ण क्रियाशीलता में लाना है। कुंडलिनी ज्यों-ज्यों सुषुम्णा के अन्दर में ऊपर उठती जाती है, सूक्ष्म नाड़ियों के अन्दर स्थित विविध सूक्ष्म केन्द्र प्रकाशित हो उठते हैं और अंततः यह ज्योति के फ़ौवारे, सहस्त्रार-चक्र तक पहुँच जाती है। शाश्वत दिव्य-आभा पर पड़े आवरण के इस तरह नष्ट होने से मन शीघ्र ही तल्लीन हो जाता है और ध्यान की एकाग्रता स्वयं ही प्राप्त हो जाती है।

आसनों द्वारा माँस-पेशियों तथा नाड़ियों पर नियंत्रण-क्षमता तो ज़मीन की तैयारी मात्र है। योग की असली क्रियाविधि का प्रारम्भ तो शरीर में दस प्राणों या दस इंजिनों की शक्ति को नियंत्रित ढंग से उपयोग में लाने में होती है।

प्राणायाम से चित्त-शुद्धि, मनशुद्धि और नाड़ी-शुद्धि प्राप्त होने और फलस्वरूप मन स्थिर होने से एकाग्रता बढ़ती है और आत्मा के ऊपर चढ़े आवरणों और कोशों के नष्ट करने में सहायता मिलती है। यह इच्छाओं को नष्ट करता है, पाचन-शक्ति को बढ़ाता है, ब्रह्मचर्य पालन तथा एकाग्रता, और कुंभक (शांत अवस्था) की प्राप्ति में सहायता करता है- चाहे पूरक या रेचक (अंत:श्वसन और उच्छ्रवसन प्रक्रियाओं) के साथ हो या उनके बग़ैर।

प्राणायाम का अभ्यास शौचादि से निबटकर, साफ़ और गुनगुने पानी से नथुनों की अच्छी तरह सफ़ाई करके और गरारे करने के बाद करना चाहिए। इसका अभ्यास अकेले बैठकर, मुँह बंद कर, ऐसे कमरे में करना चाहिए, जिसमें ताज़ी हवा आने के लिये खिड़कियाँ खुली हों। पंद्रह मिनट के अभ्यास के बाद एक प्याला दूध पीना अच्छा रहता है। ऐसे अभ्यास के तुरन्त बाद नहाना नहीं चाहिए।

वायु-रहित स्थान में दीपक की स्थिर लौ की तरह, मन की वृत्तियों को रोककर, चित्त को शांत व स्थिर बनाना ही प्राणायाम का उद्देश्य है। सभी अभ्यास या क्रियाओं का लक्ष्य यही है कि मन अपने स्रोत– 'हृदय-गुफा' की ओर प्रवृत्त हो और आत्मन् में लीन हो सके।

मन की बुरी वृत्तियों को अच्छी वृत्तियों के अभ्यास से दूर किया जा सकता है– जैसे कि काम-वासना को ब्रह्मचर्य से, मद को नम्रता से, लोभ को संतोष से, कंजूसी को उदार-हृदयता से, भ्रम को विवेक से, कपट को ईमानदारी से, चंचलता को दृढ़-सकंल्प से, अहंकार को शिष्टता से, ईर्ष्या को प्रेम से, आसक्ति को अनासक्ति से, शत्रुता को मैत्री से इत्यादि।

वेदान्त मार्ग में पहले मन रूपी वृक्ष से संकल्प रूपी शाखाओं को काटा जाता है, और उसके बाद अहंकार से उत्पन्न उसकी जड़ को काट कर इस वृक्ष को ही नष्ट कर दिया जाता है।

प्राणायाम : योग का एक प्रकार के रूप में

'हठ-योग' व 'राज-योग' के मूल अंग होने के नाते प्राणायाम का महत्त्व इतना ज़्यादा है कि कुछ लोग इसे अपने आप में योग के एक स्वतंत्र अंग के रूप में मानते हैं और इसे 'प्राण-योग' का नाम दे दिया जाता है।

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, इडा व पिंगला नाड़ियाँ स्वाधिष्ठान-चक्र से, जो जीवन-प्राण का केन्द्र है, शुरू होकर मध्य नाड़ी, सुषम्णा के इर्द-गिर्द, पेचदार ढंग में घूमती हुई, क्रमश: बांयें व दांयें नथुनों में समाप्त होती हैं। इनमें से इडा तो चन्द्रमा से प्रभावित है तथा पिंगला सूर्य से। इडा में चन्द्रमा की नमी बहुतायत से होती है, जो प्राकृतया स्त्री-तत्व का प्रतीक है, जबकि पिंगला में सूर्य की ऊर्जा है और यह प्रकृति में पुरुष-तत्व का प्रतीक है। ये दोनों नाड़ियाँ– 'ऋणात्मक' व 'घनात्मक', प्रकृति व पुरुष अथवा भौतिक तत्व व आत्मा– दोनों के प्रभाव से क्रियान्वित हो कर कार्य करती हैं।

जब पिंगला नाड़ी, जोकि सूर्य की ऊर्जा से प्रभावित होती है, कार्यशील होती है, तो भोजन जल्दी और आसानी से पच जाता है, और जब इडा कार्यशील होती है, तो यह शरीर को शक्ति एवं ऊर्जा प्रदान करती है और शरीर व उसकी माँस-पेशियाँ इत्यादि को पुष्ट करने में सहायक होती हैं। इन नाड़ियों के माध्यम से इन दोनों आकाशीय पिंडों के प्रभाव से ही प्रकृति व मनुष्य जाति, नर व मादा– दोनों में और अधिक विकास होता है। चन्द्रमा की नमी स्त्रियों में 'रज' की तथा सूर्य की जीवनदायी ऊर्जा पुरुषों में 'वीर्य' के उत्पादन में सहायक होती है।

दिन में सूर्य नाड़ी (पिंगला) अधिक समय तक क्रियाशील रहती है। इसलिये जब तक कि सूर्य की सक्रिय कार्यरत हो, उसी दौरान भोजन कर लेना चाहिए, ताकि यह आसानी से शरीर-तंत्र में घुल-मिल कर शक्ति का स्रोत बन जाये। सूर्यास्त के पश्चात् लिये गये रात्रि भोजन से शरीर का वज़न और इसमें चर्बी बढ़ने की संभावना रहती है तथा पाचन सम्बंधी विकार पैदा होने से शरीर में मूल तत्वों– जैसे कफ़ (phlegm), पित्त (heat) तथा वात (gaseous vibrations) आदि, का संतुलन बिगड़ सकता है।

प्राणों में संयम

संक्षेप में, इस साधना के अंतर्गत निम्नलिखित केन्द्रों की स्थापना सम्मिलित हैं :

***1.** शरीर में कोई केन्द्र स्थापित करना होता है, जैसे कि हृदय तन्तु-जाल या प्राण वायु के क्षेत्र में, जहाँ मनोमयी-आत्मा का निवास होता है।*

***2.** कोई एक केन्द्र शरीर से बाहर स्थापित करना होता है।*

***3.** बाहर व अन्दर के दोनों केन्द्रों पर कार्यरत होकर, इन दोनों के बीच प्राणायाम करना होता है।*

***4.** 'त्राटक' (spot-gazing) का अभ्यास अथवा दृष्टि-साधना, जिसमें धीरे-धीरे ध्यान को बाहर से भीतर ले जाकर और इसे आंतरिक केन्द्रों में से एक पर कुछ समय तक टिका कर रखना होता है।*

शरीर के बाहर केन्द्र स्थापित करने के लिये पहले साधक को एकांत में बैठकर सफ़ेद कागज़ पर एक पीला निशान बनाकर सामने मेज़ पर या दीवार पर, आँखों की सीध में लटकाना होता है। फिर उस निशान पर त्राटक (अथवा दृष्टि स्थिर करके एकटक देखना) किया जाता है, जिस समय पिंगला नाड़ी चल रही हो। ध्यान को 'अनाहत ध्वनि' पर स्थिर करके धीरे-धीरे उसमें लीन करना चाहिए। कुछ दिन तक ऐसे अभ्यास करने के पश्चात्, बाहरी निशान को क्रमशः नीले, तत्पश्चात लाल, फिर नीलिमा वाले सफ़ेद रंग और अंत में चटक सफ़ेद रंग में बदलकर, प्रत्येक रंग के निशान पर कुछ दिन त्राटक का अभ्यास करें। त्राटक अभ्यास का उद्देश्य मूल वर्णों का सुस्पष्ट दर्शन करना है– ये वर्ण क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश के वर्णों के द्योतक हैं। शीघ्र परिणाम प्राप्ति के लिये त्राटक अभ्यास कम से कम दो-तीन घंटे प्रतिदिन करना चाहिए। इससे नेत्रों की दृष्टि शक्ति में लाभ होता है और दूसरों पर अपना प्रभाव डालने में बड़ी सहायता मिलती है।

त्राटक-चिन्ह तथा नेत्रों के बीच की दूरी का भी ध्यान रखना हो. ता है। प्रारम्भ में त्राटक चिन्ह को लगभग 2 फुट की दूरी पर स्थित करना चाहिए, कुछ दिन अभ्यास के पश्चात दूरी 1 फुट 9 इंच कर के, फिर 1 फुट और उसके बाद 6 इंच करें। जब यह त्राटक एक सुखदायक

तल्लीनता का रूप धारण कर लें, तो निशान को नासाग्र के और भी निकट लाया जा सकता है। तत्पश्चात्, असली साधना प्रारम्भ होती है और शनैः शनैः ध्यान को नाक के मूल में, भ्रू-मध्य में स्थिर करके टिकाना होता है। इस अभ्यास का महत्त्व यह है कि बिखरी हुई चित्त-वृत्तियों को बाहर भटकने से रोककर और शरीर के शांत बिन्दु (still-point) अर्थात् मन के केन्द्र (seat of the mind) पर इकट्ठा कर उन्हें अंतर्मुख किया जाता है, ताकि वे 'अनाहत नाद' के संपर्क में लाई जा सकें। ऐसा करने से प्राणों में लय स्वतः आ जाती है और वृत्तियाँ एवं प्राण– दोनों एक साथ स्वयंमेव समन्वित होकर स्थिर हो जाते हैं। त्राटक के साधन से मन व प्राण सुव्यवस्थित हो जाते हैं और आत्मा मनोमयी व प्राणमयी कोशों या आवरणों से मुक्त हो जाती है।

प्राण-योग के लाभ

प्राण-योग का अभ्यास समस्त इंद्रिय-क्षमताओं (sense faculties), यथा अवगमन (perception), श्रवण (audition), घ्राति (olfaction), स्पर्श (touch) तथा आस्वादन (taste) को पुष्ट करने में सहायक होता है। अपनी विचारशक्ति से ही, योगी परिमंडल से अपने उपयोग के लिये सभी यथेच्छ शक्तियों को अपनी विचारशक्ति से जोड़कर आकर्षित कर सकता है। कड़ाके की दाँत किटकिटाती भंयकर सर्दी के मौसम में साधक सिद्ध-आसन से बैठकर, ठोड़ी को छाती से सटाकर, सूर्य के तेज़ का ध्यान करके, पिंगला नाड़ी (सूर्य नाड़ी) का अभ्यास शुरू कर सकता है। गर्मी अपने आप उत्पन्न हो कर उसे पसीने में डुबो देगी। इसी प्रकार से ग्रीष्म-ऋतु में ठंड का अनुभव किया जा सकता है। यह सब विचार-शक्ति (thought-force) पर निर्भर करता है, बशर्ते आत्मा के निवास-स्थान (भ्रू-मध्य) पर ध्यान जमाना आता हो। यह प्राण-योग का पराकाष्ठा है। चित्त व प्राणों को एक सामान स्तर पर लाकर इन तमाम शक्तियों का विकास किया जा सकता है। विचार-शक्ति चित्त से प्रकट होती है और प्राण-योग में प्राण का चित्त के साथ आत्मा के स्तर या दिव्य-लोक (Divine plane) पर सामंजस्य किया जाता है।

5. प्रत्याहार अथवा इंद्रिय-निग्रह
(इंद्रियों को वापस खींचना तथा अंतर्मुखता)

प्रत्याहार *का अर्थ है– इंद्रियों को उनके विषयों से वापस खींच लेना। यम, नियम और प्राणायाम के अभ्यास से मन की सफ़ाई हो जाती है, जबकि प्रत्याहार के अभ्यास से इंद्रियों पर पूरा नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। अत: इन्द्रियों पर नियंत्रण योग-विद्या में प्रमुख तत्व है। जब तक इंद्रिय-रूपी घोड़ों को नियंत्रित कर के उनकी विषयों तथा भोगों-रसों की ओर पागल सरपट दौड़ को रोका न जाये, तब तक मन को सम्भवत: शांत नहीं किया जा सकता। इसलिये इंद्रियों को उनके घाटों से वापस खींचना तथा सभी बाहरी संस्कारों तथा प्रभावों से उन्हें बचाना बहुत आवश्यक है। हमारे अन्दर कम से कम 88 से 95 प्रतिशत संस्कारों की छाप आँखों व कानों के दो मुख्य प्रवेश मार्गों से आती है और बाक़ी 5 प्रतिशत अन्य इंद्रियों से। इसलिये यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि आँखों व कानों के मुख्य जल-द्वारों को बंद रखा जाये, ताकि बाहर के संस्कारों की बाढ़ का जल अन्दर घुसकर मन-मानस की झील को जलमग्न न कर दे। मन पर इंद्रियविषयों के आक्रमण के प्रभाव को दृढ़ता से रोकने के लिये, योग के अभ्यासी के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रतिदिन कुछ समय के लिये अपने 'हृदय के मठ' में एकांत वास करे, क्योंकि जैसा कि सामान्य अनुभव है कि गंदले पानी को यदि कुछ समय तक स्थिर खड़े रहने दिया जाये, तो वह अपने आप ही निर्मल हो जाता है।*

प्रत्याहार (अर्थात् इन्द्रियों के अन्दर की ओर खिंच जाने या दिवास्वप्न की अवस्था को प्राप्त करने के लिये तैयारी के रूप में इन्द्रियों पर नियंत्रण करना) का अभ्यास विवेक और विचारशीलता द्वारा भी किया जा सकता है। जीवन के सही मूल्यों के ज्ञान से, हम उस दूषित और अनुपयुक्त आहार से बचने लगते हैं, जिसका रस-भोग इंद्रियाँ अन्यथा करती रहती हैं, और इस प्रकार चित्त पर नियंत्रण पाने में सफल हो जाते हैं। यह उसी प्रकार है, जैसेकि हम अपनी विवेक की शक्ति से संसार में इन्द्रियों के यातायात को मायावी सुखों के क्षेत्रों को बारूद से उड़ा कर, उनमें प्रवृत्त होने से बिल्कुल रोक दें। योगाभ्यास में सफलता पाने के लिये प्रत्याहार अति आवश्यक है। इंद्रियों के उलटने पर अर्थात् अंतर्मुख होने पर, एक योगी अपनी आंतरिक

चेतना जगाने के लिये प्रयास कर सकता है। इसके अभ्यास से व्यक्ति का मन शुद्ध हो जाता है, वह आत्म-निर्भरता में निष्ठ हो जाता है और एक कठोर संयमित जीवन बिताने में सक्षम हो जाता है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में हम पाते हैं :

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

– श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (II:61)

(साधक को चाहिए कि वह सम्पूर्ण इंद्रियों को वश में कर, समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिस पुरुष की इंद्रियाँ वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।)

उपर्युक्त पाँच तत्व– यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार योग में प्रगति के लिये तैयारी का कार्य करते हैं। परन्तु, वे योग-प्रणाली की सहायक अंग मात्र हैं, मुख्य अंग नहीं। वे शरीर, प्राण, मन व इंद्रियों को शुद्ध करने में सहायता करते हैं।

अब हम योग के सीधे आंतरिक रूप से सहायक साधनों पर आते हैं। यह संख्या में तीन हैं : धारणा, ध्यान तथा समाधि, जोकि 'अन्तरंग-साधना' (आंतरिक अनुशासन) के अंतर्गत आते हैं।

6. धारणा या संयम
(तल्लीनता अथवा संकेन्द्रन)

प्राणायाम द्वारा प्राणों पर नियंत्रण करके, तथा प्रत्याहार द्वारा इंद्रियों पर नियंत्रण करके, योग के विद्यार्थी को अब अपना मन किसी वस्तु पर स्थिर करना होता है। मन को किसी बाह्य वस्तु– जैसे कि कोई प्रतिमा, चित्र या किसी अन्य प्रकार के वस्तुतिकरण, पर स्थिर किया जा सकता है अथवा यह पिंड (स्थूल शरीर) के अन्दर किसी चक्र पर या किसी विचार पर या अंड (सूक्ष्म जगत) के किसी चक्र पर स्थिर किया जा सकता है। अत: किसी विशेष स्थान, वस्तु, विचार या चक्र पर– जैसा भी करना सुलभ हो– मन को स्थिर करना ही धारणा कहलाता है। किसी भी प्रकार की धारणा मन को स्थिर करने में सहायक होती है तथा अपने ही तरीक़े से लाभप्रद भी।

1. **किसी भी इन्द्रियग्राह्य अवबोधन** *(perception) पर धारणा करने से फैली हुई मनोवृत्तियाँ एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती हैं, जिससे मन को स्थिरता प्राप्ति होती है।*

क. नासाग्र धारणा *से 'दिव्य-गंध' (Divine fragrance) की अनुभूति होती है, जिसे 'वार्ता सिद्धि' कहा जाता है।*

ख. जिह्वाग्र धारणा *से 'दिव्य-रस' या 'अमृत' (Manna, Nectar) का स्वाद आता है। इस दिव्य-रस के ज्ञान को 'आस्वादन' कहा जाता है।*

ग. जिह्वा के मध्य में धारणा *से 'दिव्य-स्पर्श' (Divine touch) या उत्कृष्ट हुज़ूरी के सान्निध्य का अनुभव मिलता है। स्पर्श के इस दिव्य-ज्ञान को 'विदान' के नाम से जाना जाता है।*

घ. जिह्वा के जड़ पर धारणा *से 'दिव्य-ध्वनि' (holy Harmony) सुनाई देती है, जिसे 'श्रवण' कहा जाता है।*

च. जिह्वा के तालू *(palate)* **में धारणा** *से 'दिव्य-रंगों' (Divine colours) या तत्वों की प्रदीप्ति का अनुभव मिलता है, जिसे कि 'आदर्श सिद्धि' कहा जाता है।*

2. **मन के केन्द्र पर प्रदीप्त** *(luminous)* **मानसिक अवस्था पर धारणा** *: इसका अभ्यास हृदय के नीचे अष्टदल-कँवल (आठ पंखुड़ियों वाले कमल की दिव्य-ज्योति) पर, जिसके बीच से सुषम्ना या ब्रह्म-नाड़ी गुज़रती है, पहले साँस अन्दर की ओर खींच कर तथा फिर बाहर निकालकर, कँवल के नीचे की ओर झुकी हुई वर्तमान स्थिति से, उसकी खिली हुई स्थिति की कल्पना करते हुए, ध्यान करते हुए धारणा की जाती है।*

3. **संतों, महापुरूषों- जैसे महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह या इससे बेहतर, जीवित सत्गुरू की, जोकि सभी इच्छाओं से मुक्त हैं तथा औरों को भी मुक्त करने में सक्षम हैं,** *धारणा करने से भी व्यक्ति सभी इच्छाओं, मानसिक रागों और मन व माया (पदार्थों) के बंधनों से मुक्त हो जाता है।*

4. **बाहरी पिंडों- जैसे कि नक्षत्रों, सूर्य, चंद्रमा, ग्रहों इत्यादि पर धारणा** *से परा-चेतन (super-sentient experience) अनुभव मिलता है, जैसे :*

क. सूर्य की धारणा : *इस संयम से चौदह भुवनों से युक्त (सात ऊपर के लोक– भू, भुवः, स्व्, महर्, जनः, तपः और सत्यम् और सात नीचे के लोक– सुतल, वितल, तलातल, महातल, रसातल, अतल व पाताल) ब्रह्मांड का ज्ञान होता है।*

ख. चंद्रमा की धारणा : *इस संयम द्वारा तारागणों का ज्ञान होता है।*

ग. ध्रुव–तारे पर संयम : *इससे तारागणों की गति का ज्ञान होता है।*

घ. बलशाली हनुमानजी या हाथी आदि पर संयम : *इस के करने से तद्रूप बल व वीरता सम्पन्न हो जाता है।*

च. अपने शरीर के आकार में धारणा : *इस संयम द्वारा, बोध करने की शक्ति के रुक जाने से तथा ज्योति का आँख से सम्बंध समाप्त हो जाने से, अपना शरीर अदृश्य हो जाता है।*

5. आंतरिक चक्रों, स्वयं तथा इन्द्रियों पर संयम : *इस धारणा का उपयोग गुणों, आंतरिक केन्द्रों, चक्रों, नाड़ियों आदि पर किया जा सकता है, उदाहरण के लिये,*

क. नाभि (navel) या मणिपूरक चक्र पर धारणा : *इस से शरीर की संरचना का ज्ञान होता है।*

ख. गलकूप (pit of the throat) या विशुद्धि–चक्र पर धारणा : *इससे भूख-प्यास से मुक्ति मिल जाती है।*

ग. सहस्रार पर धारणा : *इस से सिद्ध पुरुषों का दिव्य-दर्शन होता है। इसमें ब्रह्मरंध्र (ब्रह्म का छिद्र) पर, जो मूर्धा (मस्तिष्क) के अन्दर एक सुराख़ है, जिसमें से होकर दिव्य-ज्योति (Divine light) नीचे की ओर प्रवाहित होती है, ध्यान को संकेन्द्रित किया जाता है। निर्गुण उपासक अपना सारतत्वध्यान (abstract meditation) इसी केन्द्र पर करते हैं, जिसे 'सहस्रार' भी कहा जाता है।*

घ. हृदय में अनाहत चक्र पर संयम : *इसके करने से मन का ज्ञान प्राप्त होता है।*

च. कूर्म नाडी में संयम : *इस के करने से शरीर स्थिर हो जाता है। कूर्म नाड़ी छाती की सूक्ष्म नली जैसी नाड़ी है, जो गले के नीचे है और जिसमें होकर 'कूर्म' नामक उपप्राण चलकर आँखों की पलकों व भौवों को संचलित करता है।*

छ. हृदय की आंतरिक ज्योति पर संयम : *इस के करने से सूक्ष्म ज्ञान (अंतर्दिव्यदृष्टि, clairvoyance)– जैसे कि धरती में गढ़े हुए ख़ज़ाने, गुप्त व दूर-सुदूर की वस्तुओं आदि का ज्ञान मिल जाता है।*

***6.* अपने आप पर संयम** : *इस के करने से दिव्य-दृष्टि (Clairvoyance), दूर-श्रवण (Clairaudience) तथा अन्य पारलौकिक दिव्य-शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उच्चतर स्पर्श, उच्चतर स्वाद तथा उच्चतर गंध का ज्ञान प्रतिभा* (Intuition) *से ही, बिना किसी अन्य विशेष संयम के प्राप्त हो जाते हैं।*

निज-मूल-प्रकृति (प्रज्ञाशक्ति, cognitive power) पर संयम करने से, बग़ैर किसी बाह्य मनेन्द्रिय व कर्मन्द्रिय की सहायता के, विशुद्ध प्रज्ञाशक्ति प्राप्त होती है। इन्द्रियों के अपने केन्द्रों में ही निष्क्रिय पड़े रहने से अवर्णनीय आनन्द (ineffable bliss) को अवस्था प्राप्त होती है, जिसे 'सानन्द समाधि' कहा जाता है।

***7.* शरीर के निश्चित लक्षणों– जैसे, रंग, आवाज़ या किसी अन्य चीज़ पर संयम** : *इस के करने से व्यक्ति दूसरों के मन की अवस्था व प्रकृति को समझना प्रारम्भ कर देता है।*

8.

क. मन या मानसिक विचारों पर संयम : *इस से व्यक्ति मन के अवयवों को जान जाता है।*

ख. समय पर संयम : *इस से प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है।*

ग. वायु व आकाश तथा दोनों के बीच सम्बंध पर संयम : *इससे दिव्य-शब्द के श्रवण की क्षमता प्राप्त होने से व्यक्ति, मात्र अपनी इच्छाशक्ति से, किसी भी दूरी से किसी भी सूक्ष्म ध्वनि को सुन सकता है। इसी तरह से, अधिष्ठानभूत (वायु, तेजस् व पृथ्वी इत्यादि) से संपर्क स्थापित करके व्यक्ति दूसरी इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्ति का विकास कर सकता है।*

घ. आकाश व शरीर के सम्बंध पर या फिर कपास जैसे हल्केपन पर संयम : *इससे शरीर अत्यंत हल्का हो जाने से आकाश में उड़ने की शक्ति आ जाती है तथा व्यक्ति पक्षी की तरह*

आकाश में कहीं भी विचर सकता है, अथवा सूर्य की किरणों पर भी सवार हो सकता है।

खेचरी-मुद्रा सिद्ध होने से योगी वायु में उड़ भी सकता है। जो व्यक्ति 'सम्मोहन-विद्या' या 'इन्द्र-जाल' जानता है, वह भी आकाश में उड़ सकता है, परन्तु वास्तविक नहीं, क्योंकि यह मात्र एक जाल या दृष्टिभ्रम है और वह वास्तव में ज़मीन पर ही रहता है (यदि आप उसकी फ़ोटो खीचें, तो वह उसे ज़मीन पर ही दिखायेगी, न कि उड़ता हुआ)।

च. मन की तीन (सत, रज, तमोगुणी) अवस्थाओं पर संयम : *इसके करने से भूत, भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञान होता है।*

छ. विदेहावस्था पर संयम : *इस के करने से व्यक्ति जब चाहे, शरीर से बाहर जा सकता है तथा बिना शरीर के ही काम कर सकता है और सर्वव्यापी होने की सर्वविद्यमानता की शक्ति का अनुभव पाकर, किसी दूसरे में कायाप्रविष्ट होकर, उसके शरीर एवं बुद्धि के द्वारा कार्य कर सकता है।*

ज. मनसपटल के संस्कारों पर संयम : *इसे करने से पिछले जन्मों का ज्ञान हो जाता है।*

9.

क. उदान वायु पर संयम : *इस पर आधिपत्य होने से जल, कीचड़, काँटे आदि से सम्बद्ध या लिप्त नहीं होता और यथेच्छ स्थूल शरीर को प्रथक् कर सूक्ष्म शरीर द्वारा नभ में यात्रा कर सकता है।*

ख. समान वायु पर संयम : *इस पर आधिपत्य होने से प्रकाश प्रकट होता है और योगी अपने शरीर से आग तथा लपटों को पैदा कर सकता है।*

10.

क. मित्रता व अन्य सद्गुणों पर संयम : *इस से दूसरों में भी ये गुण डाले जा सकते हैं।*

ख. विवेक अर्थात् पुरुष या आत्मा तथा सत्व या पवित्रता के बीच सम्बंध पर संयम : *इससे से सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता की शक्ति प्राप्त होती है।*

ग. शब्द पर संयम : *इससे पशु-पक्षियों समेत सभी जीवों की बोलियों का ज्ञान हो जाता है।*

घ. अपने कर्मों पर संयम : *इसके करने से व्यक्ति को अपनी मृत्यु का समय पूर्वज्ञात हो जाता है।*

जब मन अत्यंत साफ़ व पवित्र हो जाता है और उसमें जड़ तक पूरी तरह से सतोगुण भर जाता है, तो तत्काल ज्योति का विकास हो जाता है।

मन की पाँच अवस्थायें हैं :

क. क्षिप्त *या भटकता हुआ मन, जिसमें चित्त निरन्तर बिखराव की अवस्था में होता है।*

ख. मूढ़ *या ऐसा मन, जो कमज़ोर और भूलने वाला हो और कुछ भी न जानता हो। इसमें मन उलझन व मूर्खता की अवस्था में होता है।*

ग. विक्षिप्त *या ऐसा मन, जो क्षण-क्षण में एकाग्र होकर पुनः बिखर जाता है। यह अपूर्ण स्थिरता की स्थिति है।*

घ. एकाग्र *या ऐसा मन, जो एक लक्ष्य पर एकाग्र रहे और उद्देश्य की स्थिरता से युक्त हो।*

च. निरुद्ध *या ऐसा मन, जो अनुशासित, नियंत्रित और भली प्रकार संयमित किया हुआ हो।*

कोई भी योग, पहली तीन अवस्थाओं में सम्भव नहीं है– चौथी व पाँचवी अवस्था में ही यह सम्भव है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त, आठ प्रकार की सिद्धियाँ व शक्तियाँ है, जिनका प्रयोग सिद्ध पुरुष या श्रेष्ठतर व्यक्ति प्रायः करते हैं :

क. अणिमा : *अणु समेत सभी वस्तुओं के अन्दर प्रवेश कर जाने की क्षमता करना, ताकि उनके आंतरिक बनावट को देखा जा सके।*

ख. लघिमा : *हल्कापन प्राप्त करने की क्षमता, ताकि सूरज की किरणों पर भी सवार हो सके। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त होते हुए भी, इसका प्रयोग विकर्षण अथवा हल्का होकर उड़ने (levitation and trans-levitation) आदि में किया जाता है।*

ग. गरिमा : *स्टील के समान भारी हो जाने तथा किसी भी पदार्थ को अचल कर देने की क्षमता की प्राप्ति। यह लघिमा के विपरीत है।*

घ. महिमा : *आकाश जैसी विस्तृत व सर्वव्यापी अवस्था पाना और ब्रह्मांडीय व्यवस्था तथा दूर-दूर की वस्तुओं– जैसे सौर जगत की कार्यशीलता को देख पाना।*

च. प्राप्ति : *चंद्रमा आदि तक, कहीं पर पहुँच पाने की शक्ति पाना, जिससे सर्वव्यापित्व का भाव ग्रहण होता है।*

छ. प्राकाम्य : *सभी इच्छाओं की पूर्ति करने की सामर्थ्य पाना।*

ज. वशित्व : *समस्त प्राणियों तथा प्राकृतिक शक्तियों- जैसे हवा, वर्षा आदि, पर नियंत्रण की शक्ति पाना।*

झ. ईशित्व : *ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि की शक्तियों के समान सृष्टि उत्पन्न करने, रक्षा करने तथा विनाश करने की क्षमता पा जाना।*

इनके अतिरिक्त अनेक अन्य सहायक सिद्धियाँ हैं, जिन्हें संयम भी कहा जाता है, जिन्हें व्यक्ति केवल आत्म-नियंत्रण तथा ध्यान संकल्प व संयम से प्राप्त कर लेता है– जैसे,

1. *पशु-पक्षियों की बोली समझना।*

2. *पिछले जन्मों का ज्ञान तथा मृत्यु के समय का पूर्वज्ञान।*

3. *दूसरों के आंतरिक विचारों को समझ लेना।*

4. *तारों व ग्रहों आदि जैसी रहस्यमयी तथा सूक्ष्म वस्तुओं का सुदूर से ज्ञान।*

5. *घटनाओं की भविष्यवाणी करना।*

6. *विश्व के किसी भाग में अपने आप को पहुँचा पाना।*

7. *छूने मात्र से बीमारी ठीक कर देना।*

8. *शरीर की बनावट में पूर्णता– जैसे रूप, रंग, बल, संहनन (स्थिरता) और लावण्य (भौतिक आकर्षण) आदि हासिल करना।*

यहाँ पर ऋद्धियों, सिद्धियों, या उन अतिप्राकृतिक शक्तियों के बारे में सावधान कर देना आवश्यक है, जोकि योग-साधना करते समय अक़्सर प्राप्त हो जाती हैं। बहुत सावधानीपूर्वक इनको नज़रअंदाज़ कर देना चाहिए, क्योंकि वे सच्ची आध्यात्मिक प्रगति में तथा आत्म-ज्ञान तथा प्रभु-प्राप्ति के रास्ते में, जोकि योग-साधना का अंतिम लक्ष्य है, निश्चित बाधायें हैं। अध्यात्म-पथ पर बढ़ते हुए साधक से देवता प्रायः ईर्ष्या करने लगते हैं।

वे उन योगियों को, जिन्हें उच्चतर मंडलों में प्रवेश मिल जाता है, मुस्कुरा कर अभिवादन करने आते हैं, मीठे व छल-कपट भरे शब्दों के साथ उन्हें निमंत्रित करते हैं तथा उन्हें साधना से गिराने का प्रयत्न करते हैं। महर्षि विश्वामित्र जैसे महान योगी के तप को भी इन्द्र द्वारा उनको लुभाने के लिये भेजी गई स्वर्गिक सुन्दरी के द्वारा लुभाकर नष्ट करा दिया गया था। वे अनजाने में ही उसके जाल में फँस कर रास्ते से गिर गये। यात्रा की दूसरी अवस्था में यह प्रलोभन हमला करते हैं, लेकिन नियमानुकूल मार्ग पर चलने तथा अपनी साधना में दृढ़ एवं स्थिर रहने वाले साधक की ये कुछ भी हानि नहीं कर सकते हैं।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

– योगदर्शन (III:52)

(सिद्धियों का त्याग करो और बंधन के बीजों को नष्ट करो और कैवल्य की प्राप्ति करो, जोकि पूर्ण विश्राम और स्वतंत्रता की अवस्था है।)

पुनश्चः,

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।

– योगदर्शन (III:53)

(देवताओं की मंद-मुस्कान के झाँसे में मत आओ तथा जो कुछ भी अवांछनीय है, उस सब से सम्बंध छोड़ो।)

धारणा : योग के एक प्रकार के रूप में

आंतरिक योग साधना में ध्यान की स्थिरता एक प्राथमिक आवश्यक तत्व है, जिसकी महत्ता कभी कम आंकी नहीं जा सकती।

यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।

- कठोपनिषद् (II:III-10)

(जब सभी इन्द्रियाँ स्थिर हों, मन शांत हो, और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती हो, उसी अवस्था को सर्वोच्च अवस्था कहा जाता है।)

यही कारण है कि इसे योग-पद्धति में एक केन्द्रीय स्थान प्राप्त है और इसे कुछ लोगों के द्वारा योग की एक प्रणाली के रूप में माना जाता है तथा वे इसे 'मानसिक योग' (स्वयं को तल्लीन करने का योग) का नाम देते हैं।

योग के अधिकतर विद्यार्थी अपने आप को सम्पूर्णरूप से मात्र यम और नियमों के कठोर पालन में लगाये रहते हैं, और इस प्रकार योग का जो वास्तविक मार्ग है- जिसका उद्देश्य आत्म-अनुभव और प्रभु-प्राप्ति है- उस पर वे कोई उन्नति नहीं कर पाते। जो थोड़ा कुछ आगे बढ़ते भी है, वे यौगिक आसन, मुद्रा, बंध आदि में उलझ जाते हैं और शारीरिक स्वास्थ्यवर्धक क्रियाओं, माँस-पेशियों के विकास आदि को ही वे अपने प्रयासों का सम्पूर्ण एकमात्र ध्येय बना लेते हैं। वे अपने आप को योग के शारीरिक विकास पक्ष तक ही सीमित रखते हैं, ताकि बीमारी वृद्धावस्था तथा अकालमृत्यु से छुटकारा पाकर स्वस्थ जीवन जी सकें। इनसे आगे चलकर कुछ अन्य भाग्यशाली साधक प्राणायाम तक पहुँच जाते हैं, परन्तु सारी यौगिक साधना का अंतिम उद्देश्य इसी को मान कर, अभ्यास करते हैं और प्राणों को खींच कर ब्रह्मरंध्र में चढ़ा लेते हैं, तथा अधिकांश समय तक एक कछुए की भाँति 'योग-निद्रा' में पड़े रहते हैं और इस तरह निष्क्रियता की जड़ अवस्था में पड़े रहने को ही योग-समाधि की उच्चतम अवस्था मानते हैं। परन्तु ये सभी योग के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मात्र साधन हैं, और इनका अभ्यास इसी प्रकार ही करना चाहिए।

योग का उद्देश्य आत्म-अनुभव है, जोकि आत्म-विश्लेषण तथा अंतर्मुख होने की एक नियमित प्रक्रिया द्वारा हमें देहाभास से ऊपर उठ कर आगे ब्रह्मांडीय चेतना और पार-ब्रह्मांडीय चेतना में ले जाने योग्य बना देता है। सच्चा योग, एक प्राकृतिक साधन मार्ग है, जिसमें कोई भी बनावट नहीं हो। वह जल्दी ही समझ में आने वाला और अभ्यास करने में सुलभ होना चाहिए। परन्तु योग के सिद्धान्त और व्यवहार के जानने वाले गुरुओं की कमी से, वह बोझिल और जटिल हो गया है, जोकि समझने में तो कठिन है ही, करने में उससे भी अधिक कठिन है। आजकल का जीवन इतना जटिल हो गया है कि किसी व्यक्ति के पास इतना अवकाश का समय नहीं है कि वह योग की सभी शाखाओं में निपुणता प्राप्त कर सके (क्योंकि इनमें से प्रत्येक समय के साथ विशिष्ट हो गया है) और आगे अंतिम लक्ष्य की ओर बढ़ सके। परिणामस्वरूप, जिज्ञासुजन ग़लती से योग की एक या दूसरी शाखा को ही चरम् मानकर अभ्यास करते हैं और अपनी सारी शक्ति

उसी उद्देश्य की पूर्ति में लगा देते हैं तथा केवल शारीरिक या चमत्कारिक शक्तियाँ पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं।

वास्तविक अनुभव में, सुषुप्ति या गहन निद्रा (deep slumber) की स्थिति में, मन कुछ सीमा तक निचले आनन्द मंडल (lower blissful plane) तथा निचले विज्ञान मंडल (lower cognitive plane) से मेल खाता है, क्योंकि निद्रा के निर्विघ्न तथा गहन आनन्द की कुछ यादें, जागने पर, व्यक्ति की चेतना में बनी रह जाती हैं। किन्तु, यह पिंड के स्तर का एक अनैच्छिक अनुभव मात्र है, न कि वह, जो चेतन स्थिति में स्वेच्छा से प्राप्त किया गया हो। सही जानकारी व वास्तविक साधना के अभ्यास के पश्चात व्यक्ति बेखटके पर्दा उठा सकता है तथा आध्यात्मिक स्तर पर आनन्द के स्रोत में, जब भी चाहे, डुबकी लगा सकता है और आंतरिक रूप से जीवन धारा के संपर्क में बना रह सकता है, जोकि सच्चे परमानन्द तथा सुख का असली स्रोत है। जैसे प्राणायाम द्वारा व्यक्ति अपने प्राण को मन के संपर्क में ला सकता है, उसी प्रकार प्रात्याहार और धारणा से वह मन मंडल को उच्चतर आध्यात्मिक केन्द्रों में प्रज्ञा-मंडल के संपर्क में ला सकता है।

'प्रत्याहार' का अर्थ है– 'निग्रह', और इसलिये, इसका अर्थ है, चित्त की तरंगों तथा इन्द्रियों को बाहर संसार में बहने तथा इन्द्रियजनित सुख की तलाश में भागने से रोक कर रखना। लेकिन जब तक मन व इन्द्रियों को वैसा ही सुख या उससे भी श्रेष्ठतर सुख, जो सांसारिक वस्तुओं के सुख से ज़्यादा उत्तम हो, जो उन्हें अंतर्मुख स्थिर रखने के लिये जहाज़ के लंगर का काम करे, उपलब्ध न कराया जाये, तब तक उन्हें बाहर जाने से रोके रखना बहुत कठिन है। इसे 'धारणा' कहते हैं, जिसका अर्थ है, 'धारण करना' और एकाग्रता के विषय में 'लीन हो जाना।' प्रत्याहार एवं धारणा दोनों साथ-साथ चलते हैं, क्योंकि एक ओर तो मन को बाह्य सांसारिक विषय-सुखों के प्रलोभनों से हटा कर अलग करना है, तो दूसरी तरफ़, इसे अंतर्मुख करके किसी अधिक आकर्षक वस्तु से जोड़ना है।

जब योगी किसी आसन पर बैठते हैं, तो पहले नाभि-चक्र पर नियंत्रण करते हैं, और तब प्राणों को हृदय-चक्र तक खींचकर इसे ऊपर लाकर मन के मंडल से मिला देते हैं। उसके बाद किसी उच्चतर केन्द्र पर त्राटक

आदि क्रियाओं द्वारा मन को वापस खींचकर अंतर्मुख करके घटाते हैं। पहला भाग 'प्रत्याहार' है, और दूसरा, जोकि घटाकर उच्चतर केन्द्र में तल्लीन होने का है, उसे 'धारणा' कहा जाता है।

युगों-युगों तक चलते रहने वाले आदत की तीव्र शक्ति के कारण हमारे मन ने सुखों के पीछे-पीछे भागने की एक सहज प्रवृत्ति प्राप्त कर ली है। सांसारिक सुखों को निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

1. **रूप** *व* **रंग** *या सुंदर आकृतियाँ, नमूने तथा नेत्रों को आकर्षक लगने वाले रंग।*

2. **शब्द** *या संगीतलहरियाँ, लय-युक्त मंत्र-मुग्ध करने वाली, जोकि कानों को आकर्षित कर ले।*

3. **रस** *या सुस्वादु भोज्य-पदार्थ, जो जिह्वा को वशीभूत कर ले।*

4. **गंध** *या ऐसी मादक सुगंध, जोकि घ्राणेन्द्रिय को आकर्षित करे।*

5. **स्पर्श** *या शारीरिक स्पर्श का आनन्द, जोकि स्पर्श इन्द्रिय द्वारा मिलता है।*

जागृत अवस्था में, जबकि इन्द्रियाँ एकदम चौकन्नी हों, व्यक्ति उपरोक्त सुखों का भौतिक स्तर पर अनुभव प्राप्त करता है। स्वप्न की अवस्था में, जोकि लगभग सूक्ष्म की परछाई हैं, व्यक्ति सबसे अधिक ध्वनि के रस का अनुभव करता है, क्योंकि उस अवस्था में इसका सीधा प्रभाव मन पर पड़ता है। स्वप्नरहित और गहरी निद्रा की अवस्था में, जोकि कारण या बीज अवस्था की परछाई है, व्यक्ति गहन तल्लीनता का अनुभव प्राप्त करता है।

इसीलिये, व्यक्ति को विभिन्न तत्वों– आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से संबंधित रंगों पर त्राटक करके स्वयं को हृदय-चक्र में खींचना होता है, जिससे कि वे मनोहारी प्रदीप्ति प्राप्त कर लेते हैं। नियमित अभ्यास से, योगीजन पराप्राकृतिक शक्तियाँ एवं उपरोक्त सभी पाँच सुखों का आस्वादन, उनके सूक्ष्म रूप में, दूर से ही कर सकने की योग्यतायें प्राप्त कर लेते हैं। प्राणों के मन में लय हो जाने से ये शक्तियाँ प्राकृतिक रूप से स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं।

त्राटक की सहायता से प्रत्याहार और धारणा का अभ्यास और भी विकसित किया जा सकता है और योगी हृदय-चक्र से अन्दर और ऊपर

की ओर उठकर कंठ-चक्र तक पहुँच सकते हैं, इस प्रकार प्रज्ञामंडल से सम्बंध स्थापित कर सकते हैं। एक निचले केन्द्र से ऊपरी केन्द्र की ओर बढ़ने की यह प्रक्रिया प्रत्याहार, जिससे कि निचले केन्द्र को छोड़ा जाता है तथा धारणा, जिससे कि अगले उच्चतर केन्द्र को ग्रहण करके उसमें तल्लीन हुआ जाता है– दोनों के अभ्यास से ही सम्भव हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक व्यक्ति आज्ञा-चक्र में नहीं पहुँच जाता है, जोकि दो भ्रू-मध्य में स्थित है तथा आत्मा का निज-घर है, और जहाँ से जागृत अवस्था में यह स्थूल जगत में काम करती है।

जैसे ही चेतना की धारायें, जोकि सारे शरीर में फैली रहती हैं, इस आज्ञा-चक्र पर एकत्रित होती हैं, व्यक्ति स्थूल शरीर व उसके कार्यकलापों को भूल कर देहाभास से ऊपर उठता है। शनैः शनैः उसके अन्दर आंतरिक आत्म-ज्योति का प्रभात उदित होता है और तल्लीनता या धारण के बढ़ने के साथ-साथ आंतरिक प्रकाश बढ़ता जाता है। इस अवस्था में तल्लीनता या धारणा में पूर्णता हासिल होने पर स्थूल शरीर में निचले मूल अथवा गुदा-चक्र से लेकर ऊपरी आज्ञा-चक्र तक के सारे ही चक्र प्रकाशमय हो जाते हैं।

इस सम्बंध में हम यहाँ योग-प्रणाली के शरीर-विज्ञान का संदर्भ ले सकते हैं। मेरुदंड– रीढ़ की हड्डी को, जो शरीर का मुख्य स्तंभ (cerebro-spinal system), है, यौगिक शब्दावली में 'मेरुदंड' या 'ब्रह्मदंड' कहा जाता है। शिव-संहिता के अनुसार मानव शरीर में 3,50,000 नाड़ियाँ हैं, जिनमें से निम्नलिखित दस मुख्य भूमिका निभाती हैं :

***1.* इडा :** *सबसे निचले चक्र (गुदा-चक्र) से आरम्भ होकर, मेरुदंड के दायें तरफ़, सुषुम्णा के इर्द-गिर्द पेचदार घूमती हुई ऊपर को बायें नथुने तक जाती है।*

***2.* पिंगला :** *उसी चक्र से शुरू होकर, मेरुदंड के अन्दर बाँयी तरफ़ सुषुम्णा के इर्द-गिर्द पेचदार घूमती हुई दायें तरफ़ के नथुने तक जाती है।*

***3.* सुषुम्णा या सुखमना :** *इडा व पिंगला के बीच में केन्द्रीय नाड़ी जोकि मेरुदंड के अन्दर गुदा-चक्र से शुरू होकर, ऊपर महाछिद्र, ब्रह्मरंध्र तक (भ्रू-मध्य के मध्य तथा पीछे) जाती है।*

***4.* गांधारी :** *केन्द्रीय नाड़ी के अग्र भाग से निकल कर बाँयी आँख तक जाती है।*

***5.* हस्तिजिह्वा** : *केन्द्रीय नाड़ी के पृष्ठभाग से निकल कर, यह दाहिनी आँख तक जाती है।*

***6.* पुष्पा** : *केन्द्रीय नाड़ी से निकल कर, दायें कान तक आती है।*

***7.* यशिवनी** : *केन्द्रीय नाड़ी से निकल कर, बायें कान तक आती है।*

***8.* अलंभुशा** : *भुजाओं की जड़ों तक इसका विस्तार है।*

***9.* कुहु या शुभा** : *यह जनन्-इन्द्रिय के अग्रभाग तक पहुँचती है।*

***10.* शंखिनी** : *यह नाड़ी गुदा तक जाती है।*

इनमें पहली तीन– इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इडा और पिंगला, नथुनों के आधारस्थल में प्रवेश करने से पहले, एक-दूसरे के आर-पार होती हैं और इन्हें चापरूप में गुज़रने से ग्रंथी-चाप (gangliated cords) कहते हैं।

तीसरी, जो केन्द्रीय नाड़ी है, वह सुषुम्णा है, जिसे सुखमना भी कहा जाता है तथा यह मेरुदंड के अन्दर से, छः नाड़ी-केन्द्रों या षटचक्रों से होते हुए गुज़रती है। ये षट्चक्र इस प्रकार हैं :

***1.* मूलाधार-चक्र** *(Basal plexus): यह चक्र चार पखुंड़ियों वाले कँवल का है, जिसकी पंखुड़ियाँ चारों ओर फैली हैं।*

***2.* स्वाधिष्ठान-चक्र** *(Hypogastric plexus): यह चक्र छः पंखुड़ियों वाले कँवल का है, जिसमें चार पंखुड़ियाँ चारों ओर तथा एक-एक ऊपर और नीचे को फैलीं हैं।*

***3.* मणिपूरक-चक्र** *(Solar plexus): यह चक्र आठ पंखुड़ियों वाले कँवल का है, जिसमें चारों ओर मूल रूप से चार पंखुड़ियाँ हैं और उन चारों के बीच में एक-एक और पंखुड़ी स्थित है, जिससे ये आठ पंखुड़ियों वाला कँवल बनता है।*

***4.* अनाहत-चक्र** *(Cardiac plexus): यह चक्र बारह पंखुड़ियों वाले कँवल का है। जैसा कि इसका नाम है, यह अनाहत ध्वनि का चक्र है।*

***5.* विशुद्ध-चक्र** *(Pharyngeal plexus): यह सोलह-दल कमल के पुष्प जैसा है, जोकि सर्वव्यापी आकाश तत्व का बना है। जैसा कि इसका नाम है, यह महा-पवित्रता का केन्द्र है।*

***6.* आज्ञा-चक्र** *(Cavernous plexus): यह दो पंखुड़ियों वाले कमल का चक्र है, जिसे आज्ञा-चक्र अर्थात् आदेश देने का केन्द्र कहते हैं।*

क्र.	चक्रों के नाम	चक्रों के प्रधान देवता	संबंधित तत्व	प्रतिनिधि वर्ण	प्रत्येक केन्द्र का कार्य	ध्यान करने के गुण
1	मूलाधार (गुदा)	गणेश	पृथ्वी	पीला	शरीर की पवित्रता	सभी कष्टों का निवारण तथा हवा में तैरने की शक्ति
2	स्वाधिष्ठान (इन्द्री)	ब्रह्मा (Michael)	जल	नीला	प्राणि–विशेष की उत्पत्ति	निर्भयता, सभी बन्धनों से स्वतन्त्रता
3	मणिपूरक (नाभि)	विष्णु (Israel)	अग्नि	लाल	प्राणि–विशेष की जीविका व सरंक्षण	सभी इच्छाओं का स्वामित्व; सभी व्याधियों का निवारण; गुप्त ख़ज़ानों का दृष्टा; अन्य शरीरों में प्रवेश की क्षमता
4	अनाहत (हृदय)	महेश (Gabriel)	वायु	नीलिमामय श्वेत (धूम्र)	प्राणि–विशेष का विश्लेषण, क्षय व मृत्यु	भूत, वर्तमान व भविष्य का अपनेरहस्य प्रकट करना
5	विशुद्धि (कंठ)	शक्ति (जगदम्बा माता)	आकाश (सर्वव्यापी)	श्वेत (निर्मल)	उपरोक्त तीन शासकों वउ नके कार्य–विशेष के द्वारा कार्यशील सर्वनियंत्रणकर्ता शक्ति	योगेश्वर बनने की क्षमता; वेदों का ज्ञान; सहस्र वर्षों का जीवनकाल
6	अज्ञ (आज्ञा) भूमध्य व पष्ठ	सभी आवरणोंसे मुक्त विदेह आत्मा	सक्रिय जीवन–तत्व : सृष्टि की आत्मा	चमक व कांति, पूर्ण तेजोमय व अवर्णनीय	सर्वसर्वा, सर्वव्यापी, सभी दृश्य व अदृश्य का आदि–अंत	सर्व प्राकृतिक व अलौकिक शक्तियों की सर्वोच्च सपन्नता प्राप्ति

उपरोक्त चक्रों के अतिरिक्त, 'अंतःकरण' (जोकि चित्त, मन, बुद्धि और अंहकार से मिलकर बना है) चार दल कमल का होता है। इस प्रकार से कुल 52 पंखुड़ियाँ बनती हैं, जोकि संस्कृत भाषा के, जोकि विश्व की सभी भाषाओं की जननी है, 52 अक्षरों के सापेक्ष हैं। किन्तु हमें अक्षरों से ऊपर 'निःअक्षर-परा' की अवस्था में, जोकि शाश्वत और सर्वव्यापक है, पहुँचना है, जिसके बारे में संत कबीरदास जी कहते हैं :

बावन अछर लोक त्रै सभु कछु इन ही माहि।।
ए अखर खिरि जाहिगे ओइ अखर इन महि नाहि।।

— आदि ग्रंथ (गउड़ी पूरबी कबीर, पृ.340)

दो-दो चक्रों के गठबंधन या जोड़ से (देखें तालिका) एक ग्रंथी बनता है। ये तीन ग्रन्थियाँ हैं : ब्रह्म-ग्रंथी, विष्णु-ग्रंथी तथा शिव-ग्रंथी।

योगियों का मार्ग, जैसे कि पहले वर्णित किया जा चुका है, इन छः चक्रों पर प्रत्याहार एवं धारणा द्वारा, सबसे निचले चक्र से प्रारम्भ करके, क्रमशः एक-एक करके धीरे-धीरे ऊपर के चक्रों की ओर उठने से सम्बंधित है। इस प्रक्रिया में साधक, कुंडलिनी-शक्ति (जोकि मूलाधार-चक्र में साढ़े तीन लपेटों में सुषुप्त अवस्था में सर्प की भाँति पड़ी रहती है) की सहायता भी प्राप्त कराता है। यह गुप्त एवं प्रसुप्त शक्ति, प्राणायम की मदद से जागृत होती है। योगी शरीर में स्थित सभी प्राणवायु को सारे शरीर में से खींच कर नाभि-चक्र पर एकत्र करने की कोशिश करता है और इस प्रक्रिया में इस गुप्त शक्ति को भी जागृत कर लेता है। आज्ञा-चक्र से वह अनाहत की ध्वनि में लीन होकर, आगे 'सहस्त्रार' तक पहुँच जाता है, जोकि योगियों का सर्वोच्च स्वर्ग है। यह एक काफ़ी लंबा, कठिन और दुर्गम पथ है। किसी एक चक्र पर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त करके, अगले उच्चतर चक्र पर पहुँचने के लिये योगी को हरेक चक्र पर कई वर्षों तक कठिन परिश्रम करना पड़ता है। कोई व्यक्ति, जिसका शरीर मज़बूत एवं बलिष्ठ न हो अथवा यदि वह लंबे समय तक कठोर एवं निरन्तर प्रयास करने में सक्षम न हो, वह इस कठिन प्रक्रिया को अपना नहीं सकता।

पहले क़दम अथवा प्रथम सोपान में, योगी को इस शरीररूपी 'गंदगी से भरी घुड़साल' ('Augean Stables') को पूरी शक्ति लगाकर साफ़ करना होता है और इस के लिये उसे हठ-योग की क्रियाओं- जैसे कि धोती,

वस्ति, न्यौली, गज-कर्म और वज्रौली इत्यादि का, कठोर आहार नियंत्रण के साथ-साथ, अभ्यास करना पड़ता है। तत्पश्चात् मन के नियंत्रण के लिये उसे प्राणायम अथवा अच्छी तरह से नियमित श्वास-प्रश्वास के व्यायाम– जैसे कि पूरक, कुंभक, रेचक और शून्यक का, जिन प्रत्येक को करने में, एक अनुभवी व्यक्ति के मार्गदर्शन में, बहुत अधिक सावधानी, ध्यान और निपुणता वांछनीय है, अभ्यास करना पड़ता है।

योग साधना का रास्ता जो ऊपर वर्णित है, अनगिनत कठिनाइयों से भरा हुआ है। यह साधना नियंत्रित मृत्यु की उस प्रक्रिया के समान है, जिसमें केवल सुरत की चेतन-धारा को ही नहीं, बल्कि प्राणों को भी, एक चक्र से दूसरे चक्र तक बलपूर्वक खींच कर पहुँचाना होता है, जिसके कारण यह और भी ज़्यादा मुश्किल हो जाता है। यह वास्तव में, मृत्यु के समय होने वाली प्रक्रिया के ही समान है, जिसमें जीवन-धारा की वापसी उसी प्रकार से होती है, जिसके उल्टे, शरीर की रचना के समय, वह ऊपर के केन्द्रों से एक-एक करके निचले केन्द्रों पर उतरती है। मृत्यु की प्रक्रिया में, पृथ्वी-तत्व, गुदा-चक्र से ऊपर उठ कर इन्द्री-चक्र में जा कर, वहाँ पानी में घुलकर विलीन हो जाती है, जिससे हाथ और पैर बेजान हो जाते हैं। जब जल-तत्व, ऊपर उठकर चक्र-नाभि चक्र में पहुँचता हैं, तो वहाँ की आग में जलकर वह भाप में बदल जाता है, जिससे प्रजनन-इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। उसके बाद, अग्नि-तत्व, आगे हृदय-चक्र पर पहुँच कर वहाँ की वायु में विलीन हो जाता है, जिससे हृदय के नीचे का शरीर ठंडा पड़ जाता है। जब वायु-तत्व कंठ-चक्र में जाकर आकाश-तत्व में विलीन हो जाता है, तो हृदय और नाड़ी की गति भी बन्द हो जाती है (यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि इस प्रणाली से हृदयगति बन्द हो जाने से जीवन की समाप्ति नहीं होती, अपितु यहाँ से इसका प्रारम्भ होता है)। सहज-योग प्रणाली में भी यही रास्ता पार करना होता हैं– अन्तर केवल यही है कि सहज-योग में यह प्राकृतिक रूप से होता है, जबकि हठ-योग में इसे जानबूझकर, नियंत्रणपूर्वक किया जाता है, जिससे यह अत्यंत कठिनाई से ही हो पाता है। प्रत्येक तत्व, बारी-बारी से, अपने स्त्रोत में मिल जाता है– अन्न प्राण में, प्राण मन में, मन विज्ञान में, और विज्ञान कंठ-चक्र में (वैष्णव और कबीरपंथी, अपने गले में तुलसी की पत्तियों की माला

पहनते हैं और शैव, शिवलिंग धारण करते हैं, जिसका उद्देश्य अपने आपको कंठ-चक्र की याद दिलाना है, जिसे उन्होंने अपना लक्ष्य निर्धारित किया हुआ होता है)। इस कठिन योग प्रक्रिया में विपरीत दिशा में मूल-चक्र से प्रारम्भ करके ऊपर सहस्त्रार तक, जोकि ज्योतिर्मय सहस्त्र-दल-कमल है, पहुँचने के बजाय कितना आसान होता कि यदि हम प्राणों के ऊपर कोई ध्यान न दें (जैसाकि हम दैनिक जीवन में करते हैं) तथा 'सुरत की धारा' को आज्ञा-चक्र पर एकत्र करें, जोकि आत्मा का निज-स्थान है, और जहाँ पर हम अपनी जागृत अवस्था में हमेशा होते हैं, और 'श्रुति की धारा' की (जिस को पाने के लिये योगियों को पिंड-शरीर के छः चक्रों पर संघर्षमय युद्ध जीतना पड़ता है) सहायता से, सहस्त्रार पहुँचने के लिये, सीधे ऊपर उठना प्रारम्भ कर दें। श्रुति की धारा में चुम्बकीय आकर्षण की शक्ति है, जिससे जुड़ने का आनन्द छोड़ना अत्यंत कठिन है, और जिसकी प्राप्ति तब होती है, जब किसी योग एवं पूर्ण समर्थ सत्गुरु की, जो हमारे अन्दर विद्यमान जीवन-धारा को जागृत करने में सक्षम हों, तवज्जोह पाकर आत्मा देहाभास से ऊपर उठती है।

7. ध्यान अथवा संकेन्द्रन

धारणा के माध्यम से निरन्तर एकाग्रता प्राप्त होने से, जब अनुभूति का निरन्तर प्रवाह विकसित हो जाता है, तो उसे 'ध्यान' कहा जाता है। ध्यान दो प्रकार का होता है– स्थूल और सूक्ष्म। सीधे सूक्ष्म ध्यान आरंभ करना लगभग असम्भव है, इसलिये सूक्ष्म-ध्यान का अभ्यास करने से पहले, व्यक्ति को स्थूल ध्यान से आरंभ करना होता है। स्थूल ध्यान में पहले प्रभु के व्यक्तिगत रूप, इष्टदेव या फिर प्रभु-प्राप्त पुरुष या गुरु (जीवित सत्गुरु) पर ध्यान टिकाया जाता है।

सूक्ष्म ध्यान में अपना ध्यान दो भौंहों के बीच में पीछे की ओर स्थित शरीर के स्थिर-केन्द्र, 'बिन्दु' या तीसरे-तिल पर टिकाया जाता है। यहाँ पर काल और अकाल मिलते हैं, जहाँ पर अव्यक्त, व्यक्त हो जाता है। इसका प्रतिबिम्ब स्थूल शरीर (पिंड) के निचले हिस्से में स्थित गुदा-चक्र में है, जहाँ पर कुंडलिनी-शक्ति तालाबंद स्थिति में पड़ी हुई होती है। इस बिन्दु पर कुछ देर अभ्यास करने के बाद, अंधकार के धब्बे के स्थान पर ज्योति

धारणा के माध्यम से निरन्तर एकाग्रता प्राप्त होने से, जब अनुभूति का निरन्तर प्रवाह विकसित हो जाता है, तो उसे 'ध्यान' कहा जाता है। ध्यान दो प्रकार का होता है– स्थूल और सूक्ष्म। सीधे सूक्ष्म ध्यान आरंभ करना लगभग असम्भव है, इसलिये सूक्ष्म-ध्यान का अभ्यास करने से पहले, व्यक्ति को स्थूल ध्यान से आरंभ करना होता है। स्थूल ध्यान में पहले प्रभु के व्यक्तिगत रूप, इष्टदेव या फिर प्रभु-प्राप्त पुरुष या गुरु (जीवित सत्गुरु) पर ध्यान टिकाया जाता है।

सूक्ष्म ध्यान में अपना ध्यान दो भौंहों के बीच में पीछे की ओर स्थित शरीर के स्थिर-केन्द्र, 'बिन्दु' या तीसरे-तिल पर टिकाया जाता है। यहाँ पर काल और अकाल मिलते हैं, जहाँ पर अव्यक्त, व्यक्त हो जाता है। इसका प्रतिबिम्ब स्थूल शरीर (पिंड) के निचले हिस्से में स्थित गुदा-चक्र में है, जहाँ पर कुंडलिनी-शक्ति तालाबंद स्थिति में पड़ी हुई होती है। इस बिन्दु पर कुछ देर अभ्यास करने के बाद, अंधकार के धब्बे के स्थान पर ज्योति चमकने लगती है, और धीरे-धीरे आतंरिक ज्योति सत्गुरु का दिव्य-रूप धारण कर लेती है। यहाँ से ही 'ज्योतिर्मय ध्यान' का प्रारम्भ होता है।

पीरे कि चू दर दिलत नशीनद,
हाले-अज़ल ओ-अबद ब-बीनद।

— हज़रत मुल्ला हुसैन काशिफ़ी, किताब–उल–बैअत (पृ.5)

(जब ध्यान में अन्दर सत्पुरुष प्रकट होते हैं, तो व्यक्ति अनन्तकाल के गुप्त रहस्यों को सामने खुली किताब की तरह से देख लेता है।)

जबकि स्थूल-ध्यान में इष्टदेव के या गुरु के स्वरूप पर ध्यान टिकाया जाता है, सूक्ष्म-ध्यान में अरूप पर अथवा भ्रू-मध्य के बीच में अंधेरे के बिन्दु पर ध्यान टिकाया जाता है, जो बाद में धीरे-धीरे ज्योतिर्मय के रूप में प्रस्फुटित होता है।

'सत्' के अभिलाषियों को हम यहाँ पर सावधान करना चाहेंगे। उन महापुरुषों व सत्गुरुओं के, जो धरती पर पहले अवतरित हुए थे और अपने समयों में जीवों को परमात्मा से जोड़ने का काम करके अपने धाम वापिस चले गये और अब भौतिक मंडल के सम्पर्क में नहीं है, ध्यान से हमें कोई प्रशंसनीय परिणाम नहीं मिल सकता। पुनश्चः, एक पूर्ण सत्गुरु की खोज करते समय हम सावधानी बरतें, क्योंकि अपूर्ण गुरु के स्वरूप के ध्यान का

कोई फल नहीं मिलता है। इन सभी गड्ढों में गिरने से बचने के लिये, यह ज़्यादा समझदारी भरा क़दम होगा, यदि हम किसी भी सत्गुरु का- चाहे वे पिछले समयों में आये या अब वर्तमान में उपस्थित हैं– ध्यान नहीं करें। अत: साधक को चाहिए कि अपनी साधना को, जैसा कि बताया गया है, नियमित रूप से करता रहे, और यदि सत्गुरु पूर्ण है, तो जब साधक की आत्मा, स्थूल देहाभास से ऊपर उठेगी, तो सत्गुरु का नूरी स्वरूप स्वयं ही उसके समक्ष प्रकट हो जायेगा और उसकी आत्मा की संभाल करेगा। प्रभु स्वयं अन्तर में गुरुदेव के रूप में प्रकट हो जाता है, बशर्ते कि गुरु भी वास्तव में प्रभु-सत्ता में लीन हो। यह टिप्पणी उन सभी इष्टदेवों के ध्यान पर सम्पूर्ण रूप से लागू होती है, जिनका प्राय: ध्यान किया जाता है। अरूप पर ध्यान करना मानव बुद्धि-विचार से परे की वस्तु है, क्योंकि मनुष्य उस 'सत्' की कल्पना नहीं कर सकता, जो सभी प्रकार की समझ से परे हो। ऐसी स्थिति में व्यक्ति किसी भी रूप का ध्यान करके केवल सूक्ष्म तत्वों की झलक ही पा सकता है, जो अपने-आप हमें कहीं भी नहीं पहुँचा सकते।

धर्म-ग्रन्थों तथा अन्य पवित्र पुस्तकों के पठन-पाठन से भी इस पथ पर चलने के लिये कोई विशेष लाभ नहीं है, सिवाय इसके कि व्यक्ति के अन्दर कुछ शौक़ पैदा हो सके। मानवता का सबसे बड़ा शिक्षक मनुष्य ही हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति मनुष्य की हृदय-रूपी महान जीवित पुस्तक के (हृदय, यहाँ आत्मा के निवास-स्थल आज्ञा-चक्र के लिये प्रयुक्त है) पन्नों को खोलना सीख लें, तो यह काफ़ी है, क्योंकि यही समस्त ज्ञान तथा विवेक का अक्षय कोष है। व्यक्ति को केवल आँखें बंद करके, इन्द्रियों को बाहर से हटाकर अंतर्मुख करके, हृदय के विश्रामगृह में प्रवेश करके, अपने अस्तित्व को अन्दर अन्तरतम गहराई में छिपे परमात्मा में विलीन करना है। वह सर्वदा-स्थित, स्वयं-प्रकाशित ज्योति, स्वयं-परिपूर्ण, सदा एकरस रहने वाला प्रभु, मानव-शरीररूपी मंदिर में निवास करता है और जो उसे जानना और उस तक पहुँचना चाहे, उसे स्वयं अपने ही अन्दर गहराई में उतर कर उसे खोजना होगा और निस्सन्देह प्रत्येक वस्तु उसके सम्मुख प्रकट हो जायेगी। संतों-महापुरुषों ने प्रत्येक देश-काल में, यही कहा है कि, "दरवाज़ा खटखटाओ, और यह अवश्य

खोला जायेगा।" आत्मा को अपने अन्तरतम में यह डुबकी, दृश्य व अदृश्य, जो कुछ भी अस्तित्व में है, उन सभी का अखंड अनुभव प्रदान करती है– जोकि एक प्रत्यक्ष अंतर्बोध और दिव्य-विवेक है– ये सब वह उपहार हैं, जो अपने आप ही मुक्त रूप से तथा बहुतायत में मिलते हैं यदि व्यक्ति संसार को भूल जाये, अपने दोस्तों व रिश्तेदारों को भूल जाये, अपने वातावरण को भूल जाये; इतना ही नहीं, अपितु वह अपने शारीरिक अस्तित्व को भी भूल जाये। स्वैच्छिक रूप से इन सबको भुला देना सबसे बड़ी रूहानी साधना है। अन्य सब कुछ भूल कर व्यक्ति को शारीरिक देहाभास से ऊपर उठना चाहिए, क्योंकि यह सही ध्यान की पहली शर्त है। ईसा मसीह ने कहा है :

> **अपने ईश्वर को अपने पूरे हृदय से, पूरी आत्मा से, पूरे मन से और पूरी ताक़त से प्यार करो।**
>
> – पवित्र बाइबिल (मरकुस 12:30)

गहन व शांत ध्यान द्वारा व्यक्ति को अपने अन्तर में अपने अस्तित्व को प्रभु-प्रियतम की मधुर याद में लीन कर देना चाहिए और अखिल ब्रह्मांड की महान आत्मा में अपना आपा खो देना चाहिए। यही सबसे ऊँचा ध्यान है, और यह समाधि, जो सबसे साध्य लक्ष्य है, की अवस्था की ओर ले जाता है।

ध्यान : योग की एक प्रणाली के रूप में

ध्यान के आवश्यक तत्वों पर विचार कर लेने के पश्चात, अब हम 'ध्यान' को स्वयं में एक योग-प्रणाली के रूप में अध्ययन करने की स्थिति में हैं। मन सर्वव्यापी है। कबीर साहिब कहते हैं कि प्रत्येक हृदय में मन का निवास स्थान है और इसीलिये यह मानव तन के मध्य में स्थान रखता है। मन की धारा सदा अपने मंडल बनाती रहती है, और विशेषकर ऐसा तब करती है, जब यह नीचे उतरती है। मनोमय आवरण की यह केन्द्रीय स्थिति, इसे एक विशेष महत्त्व प्रदान करती है। इसके ऊपर दो आवरण हैं– विज्ञानमयी और आनन्दमयी तथा दो इस के नीचे हैं– प्राणमयी और अन्नमयी। ऊपर की ओर उठने पर यह विवेक (प्रबुद्धता) और आनन्द का, तथा नीचे की ओर जाने पर प्राणमयी व भौतिक संसार का अनुभव प्रदान करती है।

1. **आज्ञा–चक्र** : *दो भ्रू-मध्य के पीछे की ओर स्थित तीसरे-नेत्र का स्थल, जोकि आनन्दमय-कोष से संबंधित है।*

2. कंठ–चक्र : *तृतीय नेत्र और हृदय-तंत्र के बीच का स्थल, जो विज्ञानमय-कोष का केन्द्र है।*

3. **हृदय–चक्र** : *हृदय का क्षेत्र, जहाँ प्राणों (या प्राणवायु) का साम्राज्य है। यह मनोमय-कोष का केन्द्र है।*

4. **नाभि–चक्र** : *हृदय के क्षेत्र का वह भाग, जोकि नीचे की ओर नाभि तक फैला है और प्राणमय-कोष का केन्द्र है।*

5. **इन्द्री–चक्र** : *नाभि का वह क्षेत्र, जोकि गुदा तक फैला है और अन्नमय-कोष का केन्द्र है।*

6. **गुदा–चक्र** : *जोकि मूल आधार-चक्र या ऐसा मूल-स्थल है, जहाँ से सभी सूक्ष्म नलियाँ या नाड़ियाँ निकलती हैं।*

सभी पाँचों कोषों-आवरणों के केन्द्र अलग-अलग हैं, जहाँ से व्यक्ति विभिन्न स्तरों पर कार्य कर सकता है। ऊपर के दो कोष आध्यात्मिक और निचले दो कोष इन्द्रिय-संज्ञान के मंडल है।

आनन्दमयी कोष, कारण या बीज शरीर है, जिसमें से नीचे के सभी सूक्ष्म और स्थूल मंडल पैदा होते हैं। विज्ञानमयी कोष इससे बड़ी नज़दीकी से संबंधित है तथा इसके निकटतम है। तीन आवरण : विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय, मिलकर मनुष्य के अन्दर सूक्ष्म शरीर (Astral body) की रचना करते हैं, जोकि दो अन्य अर्थात् ऊपर आनन्दमयी कोष और नीचे अन्नमयी कोष या क्रमशः कारण शरीर (Causal body) और स्थूल शरीर (Physical body) के बीच की कड़ी है। इस प्रकार अन्नमय कोष, स्थूल शरीर के अन्दर की परत है और प्राणमय कोष से नज़दीक से संबंधित है।

तीनों शरीरों में मन सक्रिय कार्यकर्ता है, जोकि आत्मा की जीवनशक्ति से कार्यरत होता है, जिसके जीवन तथा ज्योति में यह कार्य करता है। सभी कार्य-कलापों व उद्देश्यों के लिये, देखने में केवल मन ही वह शक्ति है, जो कार्य करती है और अन्य चारों कोशों को कार्यरत् रखती है। स्थूल शरीर में, यह वह केन्द्र है, जहाँ से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (Sensory

organs) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (Motor organs) स्थूल मंडल में अपना कार्य करती हैं। इसी प्रकार मन से ही दस सूक्ष्म (प्राण-सम्बंधी) शक्तियाँ, मानसिक शक्तियों (मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) के साथ मिलकर सूक्ष्म मंडल में अपना कार्य करती हैं। पुनश्च: यह मन ही है, जो शांत हो जाने पर, अपने साथ सभी अव्यक्त (latent) और परासत्ता (noumenal) के प्रभावों को ले लेता है और आत्मा की 'ज्योति' व 'श्रुति' को प्रतिबिम्बित करता है। अत: यह मन का विस्तृत साम्राज्य है, जोकि भौतिक मंडल से लेकर कारण मंडल तक फैला हुआ है और इसीलिये इसे प्राय: त्रिलोकीनाथ अर्थात् तीनों लोकों का स्वामी कहा जाता है। कारण मंडल में यह एक रजत-पटल (चांदी के पर्दे) की भाँति कार्य करता है, जोकि आत्मिक तरंगों (spiritual vibrations) के दोनों ही रूपों– 'ज्योति' व 'श्रुति' को ग्रहण कर, उन्हें प्रतिबिम्बित करता है।

ध्यान-योग के लाभ

ध्यान-योग के अनगिनत लाभ हैं। योग की इस प्रणाली में संलग्न व्यक्ति केवल संकल्प करने से ही अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। 'जैसा तुम सोचोगे, वैसा ही बनोगे,' यह एक सुप्रसिद्ध कहावत है। परमात्मा के सद्‌गुणों (attributes) पर ध्यान करने से साधक उन्हें अपने अन्दर विकसित कर सकता है और स्वर्गिक ज्योति का अनुभवी दृष्टा हो सकता है, जबकि उसकी इन्द्रियाँ परा-शक्तियाँ प्राप्त कर सकती हैं। जब चित्त-वृत्तियाँ या मानसिक तरंगें (mental modulations) शांत हों, तो मन, विज्ञान के आनन्द को भी पा लेता है।

यह योग, साधक को सभी पापों से मुक्त कर देता है और वह आतंरिक आनन्द व गहन शांति का अनुभव करता है। सभी प्रकार के मानसिक विकार– जैसे कि भय, लज्जा, सन्देह, शंका व अहंकार शनै: शनै: समाप्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर निर्भयता, विश्वास, दृढ़ता व प्रसन्नता प्रकट हो जाते हैं, और जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में एक जैसा मानसिक संतुलन बना रहता है। वह राग (attachment) व विराग (detachment)– दोनों से ही विचलित नहीं होता तथा कमल के पुष्प की तरह सामान्य जीवन के अस्तित्व की कीचड़ से ऊपर उठकर तैरता रहता

है। जीवन के सच्चे मूल्यों का ज्ञान हो जाने से, वह अपनी आस्था में दृढ़ हो जाता है और निराधार भय और आकस्मिक तूफ़ान उसे प्रभावित नहीं कर सकते। उसके पास प्रशंसा या दोषारोपण का कोई कारण नहीं होता, और इस प्रकार, वह कम बोलता है तथा कार्य अधिक करता है। उसके सभी कार्य, सबके लिये करुणा और सद्‌भावना से प्रेरित होते हैं। उसके शब्द मधुर तथा विश्वस्त (authoritative) होते हैं। वह अभिमान व पक्षपात से ग्रस्त नहीं होता, अपितु पूर्ण संयमशील व न्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। वह सुस्ती और आलस्य पर विजय प्राप्त करता है, अल्प भोजन व स्वल्प निद्रा ग्रहण करता है और उसकी जागृत व सुषुप्ति अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं होता है। इसीलिये वह सदा एकरस रहता है और उसके मुखमंडल की दिव्य-आभा उसकी आंतरिक दिव्यता की स्वयं ही वर्णन करती है। कबीर साहिब फ़रमाते हैं :

ऐसे गिआन प्रगटिआ पुरखोतम कहु कबीर रंगि राता।
अउर दुनी सभ भरमि भुलानी मनु राम रसाइन माता।।

– आदि ग्रंथ (सिरी कबीर, पृ॰92)

8. समाधि

'समाधि' *संस्कृत के दो मूल शब्दों, 'सम' तथा 'आधि' से मिलकर बना है। 'सम' का अंग्रेज़ी समानार्थक (syn), है जिसका अर्थ है, 'के साथ' (together with) और 'आधि' (आदि– प्रथम जीवधारी, Primal Being), जिसका हीब्रियू भाषा में समानार्थक है– अडोन या अडोनाई (Adon or Adonai), जिसका अर्थ है, 'स्वामी'। दोनों को मिलाकर मन की वह अवस्था, जिसमें मन परमात्मा में सम्पूर्णरूप से तल्लीन हो जाये, समाधि कहलाती है। यह वह अवस्था है, जिसमें सभी सीमित करनेवाली आकृतियाँ पीछे छूट जाती हैं और व्यक्ति की सभी व्यक्तिगत विशेषतायें समाप्त होने से वह उस महान सत्य, "अयं आत्मा ब्रह्म" ("यह आत्मा ब्रह्म है") "वह मैं ही हूँ" का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।*

अनुभवात्मक योग की दीर्घकालिक साधना की यह अंतिम व पूर्ण अवस्था है और इसीलिये इसे यौगिक प्रणाली का पूर्ण विकसित देदीप्यमान

रूप (efflorescence) कहा जा सकता है। जब ध्यान-साधक स्वयं को पूरी तरह से भूल जाता है और मन अपने विचार के अनुरूप, 'ध्येयरूप' होकर तदाकार हो जाता है, तो ध्यान स्वयं ही धीरे-धीरे समाधि में विकसित हो जाता है। इस अवस्था में साधक अपनी ही चेतना के (जोकि सम्पूर्ण आनन्द की अवस्था है), अतिरिक्त किसी भी बाह्य पदार्थ का बोध नहीं रखता।

समाधि की अवस्था प्राप्त करने के लिये दो तरीक़े हैं। प्रथम 'विदेही' (जो देहाभास से ऊपर उठते हैं) वे, भौतिक पदार्थों के पीछे हर समय भागता रहने वाले चित्त को अंतर्मुख करके एक बिन्दु पर एकाग्र करके, उस की प्रकृति को ही नष्ट कर देते हैं। दूसरे अन्य साधक, प्रारंभिक अवस्था में आस्था, शक्ति एवं स्मृति के ज़रिये, पहचान (discernment) तथा 'विवेक' (discrimination) का अभ्यास करके इस अवस्था को विकसित करते हैं। समाधि के अन्य विभिन्न प्रकार भी हैं।

ध्यान (या एकाग्र चित्त धारणा, one-pointed attention, meditation) में ध्याता (contemplator) व ध्येय (contemplated) के बीच का भेद बना रहता है, परन्तु समाधि (या सम्पूर्णत्व से अभेद होने पर, identification with the totality) ये भी समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही, यदि कहें तो, विनाश हो जाता है। अनन्त (infinite) में यह तल्लीनता (absorption) ही सभी परिसीमित करने वाले अनुलग्नों (all- finitizing adjuncts) से मुक्ति प्रदान करती है, क्योंकि तब व्यक्ति को सभी पदार्थों के अन्तःस्थल की एक अंतर्दृष्टि (insight) प्राप्त हो जाती है, और उसे, जो कुछ भी विद्यमान है, उन सभी के आधिदैविक (subtle) और आध्यात्मिक (abstract) *पक्षों का अनुभव प्राप्त हो जाता है।*

समाधि अथवा परिपूर्ण (Absolute) से तादात्म्य यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व की चेतना के समेत होता है, तो इसे 'सविकल्प समाधि' (differentiated absorption) कहते हैं तथा यदि ऐसी चेतना के बिना होता है, तो उसे 'निर्विकल्प समाधि' (undifferentiated absorption) कहा जाता है। पहली समाधि की तुलना श्री रामकृष्ण ने ऐसी कपास की गुड़िया से की है, जोकि पानी में रखने पर पूरी तरह से उसमें भीग जाती है, और दूसरी अवस्था की तुलना नमक की गुड़िया से की है, जो पानी में रखने पर उसमें समा

जाती है तथा उसमें अपना अस्तित्व खो देती है। इन दोनों समाधियों में निर्विकल्प स्पष्ट रूप से उच्चतर है, क्योंकि यद्यपि सविकल्प समाधि से व्यक्ति का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक हो जाता है, फिर भी उस निरपेक्ष अवस्था (unconditioned state) की ओर, यह अभी एक प्रारम्भिक क़दम ही है। सभी योगीजन निर्विकल्प समाधि की अवस्था का अनुभव नहीं पा सकते, तथा जो प्राप्त करते भी हैं, वो अपने जीवन में प्रायः केवल एक बार ही ऐसी दुर्लभ अवस्था की प्राप्ति कर पाते हैं। वे उसके द्वारा नाम और रूप के जगत से अन्ततः बच निकल कर मुक्त आत्मायें बन जाते हैं। उनके अफलित (unfructified) कर्म, 'संचित' (भूत) व 'क्रियमान' (वर्तमान) कर्म, दोनों अब उन्हें और बांध नहीं सकते, परन्तु उनके वर्तमान जीवनों के कर्मचक्र की गति ('प्रारब्ध') तो पूरी करनी ही होगी और अंत तक पूरी ज़िन्दगी जीनी होगी। निर्विकल्प समाधि से दैनिक मानव-चेतना में वापिस लौटने पर, वे अन्य दूसरे मनुष्यों की तरह जीवित व कार्यरत रहते हैं। परन्तु सांसारिक कर्मों में प्रवृत्त रहते हुए भी, वे सदा के लिये दिव्यता में केन्द्रित रहते हैं तथा उससे कभी भी पृथक् नहीं होते। इन्द्रियों के स्तर पर सामान्य कार्यों में लगे रहने पर भी आंतरिक स्तर पर प्रभु से एकमेक बने रहने की इस अवस्था को 'सहज-समाधि' कहते हैं। संत कबीर कहते हैं :

सोये बैठे खड़े उताने।। कहे कबीर हम वही टिकाने।।

हम अब समाधि के एक अन्य प्रकार, 'भाव समाधि' की चर्चा कर सकते हैं, जिसमें भक्त, भक्ति-संगीत व गायन में खो कर, स्वयं अपने तथा आस-पास के संसार के बारे में सभी विचारों को भूल जाता है। इस प्रकार की समाधि को प्राप्त करना उन व्यक्तियों के लिये आसान है, जो भावुक प्रकृति के हैं। यह समाधि क्षणिक आनन्द एवं आंतरिक मानसिक राहत प्रदान करती है, परन्तु यह प्रभु से एकमेकता प्रदान नहीं करती तथा व्यक्ति की चेतना को भी व्यापक नहीं करती है। इस प्रकार इसे समाधि कहना भी उचित नहीं, क्योंकि यह परा-चेतना अवस्था के किसी भी केन्द्रीय गुण को नहीं दर्शा पाती, न ही यह आंतरिक यात्रा में कोई विशेष सहायक है।

समाधि की अवस्था कोई पत्थर जैसी जड़ अवस्था नहीं है और न ही यह कछुए की भांति अपने खोल के भीतर अन्दर सिकुड़ जाने की अवस्था

है। हम में से प्रत्येक आंतरिक जीवन के ख़ज़ानों से सम्पन्न है, जोकि अकथनीय हीरे-जवाहरातों से परिपूर्ण है, यद्यपि उसके बारे में हम अपने वर्तमान दैनिक कामकाजी जीवन में, मन-इन्द्रियों के घाट पर जीते हुए, अनभिज्ञ रहते हैं। हम अंतर्मुख होकर अपनी अंतदृष्टि को इतना विस्तृत कर सकते हैं कि हम न केवल ब्रह्मांडीय जीवन को ही इसके दायरे में ला सकें, अपितु मानवीय पहुँच के परे जाकर फैले हुए पार-ब्रह्मांडीय जीवन को भी आलिंगनबद्ध कर सकें। यह एक अवस्था है, एक सीधी अंतर्दृष्टि, आत्मा की सम्पूर्ण अनुभूति, जिसमें आध्यात्मिक अनुभव का तात्कालिक व प्रत्यक्ष ज्ञान मिलता हैं। एक महान दार्शनिक, प्रोफ़ेसर बर्गसन को यह विश्वास था और उन्होंने यह अनुभव भी किया था कि ज्ञान प्राप्ति के लिये बुद्धि (intellect) से, जोकि तर्क-वितर्क की प्रणाली द्वारा अर्जित ज्ञान (ratiocination) या विवेक (reasoning) तक ही सीमित है, उच्चतर एक अन्य स्रोत भी है। उन्होंने इसे अंतर्चेतना (intuition) कहा, परन्तु, यह भी केवल व्यक्ति के पिछले अनुभव के संग्रहीत ज्ञान का जोड़ ही है, जबकि समाधि की अवस्था अंतर्चेतना के भी परे, तात्कालिक व प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बंध रखती है। सूर्य के अस्तित्व में विश्वास करने के लिये एक साधारण आदमी को तर्क-वितर्क करने या अंतर्चेतना द्वारा समझने की आवश्यकता नहीं– यह उसके सामने प्रत्यक्ष है और इसलिये कोई भी प्रमाण अनावश्यक हैं। बेन जॉनसन कहते हैं, "समस्त सत्य ज्ञान अपने आप ही अस्तित्व में रहता है और इन्द्रियजनित ज्ञान से बिल्कुल स्वतंत्र है। यह आत्मा द्वारा क्रियान्वित है और इन्द्रियों के माध्यम के बिना भी सम्पूर्ण हैं।" हेनरी बर्गसन कहते हैं, "सत्य को जानने का सबसे ज़्यादा विश्वसनीय विधि है, बोध द्वारा, अंतर्चेतना द्वारा, कुछ हद तक तर्क-विर्तक द्वारा और तत्पश्चात् मृत्यु के पार एक क़दम उठाने में निहित है।" यह दिव्य-दृष्टि या ज्ञान-चक्षु (अर्थात् आत्मा का, स्वयं 'सत्' का प्रत्यक्ष अनुभव है)। परा की आत्मिक ज्योति की दमक व झलक से ही व्यक्ति को सत्य का कुछ अनुभव आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि, प्रेरणा तथा आंतरिक रहस्यों के प्रकटीकरण के रूप में होता है। आध्यात्मिक अनुभव, यद्यपि अपने आप में सम्पूर्ण होता है तथा तर्क की अंतिम सीमा से भी अत्यंत दूरस्थ है, फिर भी ये तर्क का विरोध नहीं करता, अपितु तर्क को सम्पूर्ण बनाता है।

पुनश्च: समाधि सम्पूर्ण चैतन्य है और जड़-समाधि से एकदम भिन्न है। एक हठ-योगी खेचरी-मुद्रा के अभ्यास से अपने प्राणों को जीवात्मा के स्थान सहस्त्रार पर खींच लेता है और एक पहाड़ या ज़मीन के अन्दर की गुफा में इस अचेतनता की अवस्था में महीनों और सालों बैठ सकता है। यह एक प्रकार की योग-निद्रा है और इससे कोई अतीन्द्रिय ज्ञान या आत्मिक अनुभव नहीं मिलता। इसके विपरीत, चैतन्य समाधि में व्यक्ति पूरी तरह चैतन्य अवस्था में होता है और नये परा-मानसिक अनुभव और आत्मिक ज्ञान लेकर अपनी इच्छानुसार वापस आ सकता है। जड़-समाधि में व्यक्ति अपने-आप इससे उठ नहीं सकता तथा दूसरों को ही बड़े कठिन तरीक़े से मालिश आदि करक उसे उठाना पड़ता है। एक राज-योगी, एक भक्त या एक ज्ञान-योगी अपनी समाधि से जल्दी ही उसका शरीर हिलाने से या शंख ध्वनि से या घंटा बजाने की ध्वनि से आसानी से उठ सकता है। यह चैतन्य समाधि तभी प्राप्त होती है, जबकि तीनों गुण (यथा सतो, रजो, तमो) गतिहीन होकर शांत हो जायें और चेतना की शक्ति अपनी ही प्रकृति में स्थापित हो जाये। अत: इसे प्राय: 'कैवल्य समाधि' अथवा सम्पूर्ण सहज व स्वतंत्रता की समाधि कहा जाता है।

समाधि-योग

योग का अर्थ, जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है, मन की स्थिर अवस्था, जोकि चित्त-वृत्ति-निरोध (मन को शून्य करने या मानसिक तंरगों को मन में से समाप्त करने) से प्राप्त होती है, तथा 'समाधि' शब्द संस्कृत के मूल रूप 'सम्' और 'आधि' से मिलकर बना है, जिसका तात्पर्य है, स्वीकार करना, तल्लीन होना, ध्यान की स्थिरता या गहन आंतरिक संकेन्द्रन।

प्रत्येक व्यक्ति संसार में अपनी ही पृष्ठभूमि लेकर आता है, जो उसे किसी विशेष प्रकार के योग के लिये ही उपयुक्त बनाती है। अत:एव उसे ऐसे ही प्रकार के योग का अनुसरण करना चाहिए, जो उसे सर्वोत्तम उपयुक्त लगे। समाधि-योग सर्वोच्च प्रकार का योग है। कुछ बच्चे इस ओर स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होते हैं और कुछ व्यक्ति, बिना कठोर अनुशासन में से गुज़रे ही, जोकि साधारण व्यक्तियों के लिये ज़रूरी है, आसानी से इसे कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को, बिना किसी संकोच के इसके उपयोग

की सलाह दी जा सकती है, क्योंकि वे अपने पिछले संस्कारों के कारण इसके लिये पहले से ही परिपक्व हैं।

कंठ-चक्र में, जोकि जागृत अवस्था में चेतना के केन्द्र से क़रीबी से संबंधित है, मन 'विज्ञान' या 'ज्ञान' को प्राप्त करता है। 'विज्ञान' और 'आनन्द' केवल सहस्त्रार (या सहस्त्र-दल-कमल) में ही, जो हज़ार पंखुड़ियों वाला कमल दो भौंहों (भ्रू-मध्य) के पीछे स्थित है, अनुभव में आता है और समाधि-योग का लक्ष्य इसी अवस्था का अनुभव करना है, जिसमें व्यक्ति आत्मा में अन्तर्निहित आनन्द की अवस्था का अनुभव, चेतन रूप से प्राप्त कर सके। इस प्रकार, समाधि इस तरह विशुद्ध आनन्द की अवस्था है, जोकि अन्य सभी कुछ का प्रत्यक्ष स्रोत है– 'विज्ञान' (ज्ञान), 'मनस्तत्व', 'प्राण' और 'अन्न' (इन्द्रियजनित स्थूल जगत)। परमानंद ही सभी अस्तित्व के का अंतनिर्हित व मूल आधार है, और यही कारण है कि सभी प्राणियों में संतुष्टि, प्रसन्नता एवं आनन्द की प्राप्ति की एक अंतर्जात लालसा है। मनुष्य का तो कहना ही क्या, पशु, कीट आदि– और वास्तव में सृष्टि के सभी प्राणी, अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार, विभिन्न अनुपातों व प्रकारों में सदा इनकी तलाश में रहते हैं। परन्तु इसका पूरा अभिप्राय या इसकी चेतना केवल समाधि की अवस्था में ही मनुष्य के अन्दर उदय होती है। यह एक मंडल से दूसरे उच्चतर मंडल में ऊपर उठने की निरन्तर प्रक्रिया है, जब तक कि ज्ञान, समाधि के स्तर पर आ कर आनन्द से एकमेक न हो जाये और व्यक्ति चैतन्य अवस्था में पूर्णतया: इस आनन्द की अवस्था का अनुभव न प्राप्त कर ले। समाधि-योग का यही एकमात्र उद्देश्य व लक्ष्य है।

परमानन्द आत्मा का आवश्यक गुण है। यह 'विज्ञान' या 'ज्ञान' का आवरण ही है, जो उस की आनन्दमयी अवस्था को ढक लेता है। जिस क्षण यह पर्दा हटा दिया जाता है और व्यक्ति बुद्धि के उच्चतर स्तर (आत्म-चेतना) से ऊपर उठता है, उसे सच्ची प्रसन्नाता व आत्मा के आनन्दपूर्ण सागर की अनुभूति होती है, जोकि उसके अदंर व चारों ओर अथाह गहराई और अनन्त ऊँचाइयों तक फैला हुआ हो। बीच के सभी चार कोष– अन्न, प्राण, मन और विज्ञान– यौगिक साधना के पूर्ण ज्योतिर्मय या पूर्ण ज्ञान की अवस्था तक पहुँचने के लिये क़दम-दर-क़दम आत्मिक यात्रा के रास्ते

में पड़ाव मात्र हैं, जोकि चेतना को नीचे उतरते समय पोषित करते हैं। परन्तु, जब यह एक बार स्थिर होकर आत्मिक आनन्द से संपर्क जोड़ लेती है, तो यह सच्चे और उच्चतर जीवन-मूल्यों से अवगत हो जाती है और संसार के परिवर्तनशील और छायामात्र भोगों में दिलचस्पी लेना बंद कर देती है, और तत्पश्चात् परिपूर्ण चिरस्थाई परमानन्द में तल्लीन होने की तलाश करने लगती है। आध्यात्मिक साधना की यह पराकाष्ठा है, और जब इसकी प्राप्ति हो जाती है, तो इसके पश्चात् कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता। लेकिन हम में से अधिकतर लोगों के साथ समस्या यह है कि हम 'ज्ञान' को ही सभी मानवीय प्रयत्नों का लक्ष्य मान लेते हैं और इसीलिये इस आवरण को भेद कर आगे बढ़ने की कोशिश नहीं करते और इसके परे, आत्म-चेतना में प्रवेश पाकर, आत्मा के परमानन्दपूर्ण सरोवर का, जोकि इसके आगे स्थित है, स्वाद नहीं ले पाते। परिणामस्वरूप, परमानन्द की चेतना के पूर्व रसास्वादन के बग़ैर, और उसके पूर्वाभास के बिना, हम मात्र वाचक-ज्ञानी अथवा नाममात्र के ज्ञानी बन कर रह जाते हैं और फिर निराधार मानसिक भय व उदासी की मानसिक दशाओं, शंकाओं एवं व्यथाओं के शिकार बन रहते हैं, जो हमारे ऊपर सांसारिक दैनिक जीवन में कभी भी आक्रामित कर सकते हैं। इसलिये यह ठीक ही कहा गया है :

ब्रह्मज्ञानी सामागायन्नस्ते।

– हंस नाद उपनिषद्

(वास्तविक ज्ञानी वही है, जोकि 'शब्द-ब्रह्म' ('Word') के साथ जुड़ा हो।)

निष्कर्षतः, 'विज्ञान' की अवस्था 'आनन्द' अर्थात् वास्तविक सुख से निम्नतर है। स्थूल शरीर के उपासक अन्नमयी-कोष के पाश में उलझ कर ही रह जाते हैं, और जो इन्द्रियों के भोगों-रसों में विरक्त हैं, वे प्राणमय-कोष के जाल में ही अटके रहते हैं। इसी प्रकार, जो मननेंद्रिय से ग्रस्त हैं, वे मनोमयी-कोष के दायरे में बंधे रह जाते हैं, और तथाकथित ज्ञानीजन विज्ञानमय-कोष के दलदल में फँसे रह जाते हैं। वे सभी यह अनुभूति नहीं कर पाते कि उससे भी परे और ऊपर एक अवस्था भी है, जोकि इन सब से कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। परत-दर-परत, यह चार आवरण बड़े ही मोटे और भारी हैं, और जो परिपूर्ण आनन्द के सिरमौर रत्न को ढाँपे हुए हैं। उस महान जौहरी– परमात्मा ने 'आनन्द' को सबसे अन्तरतम्

गहराई में, 'विज्ञान' की मोहिनी व भव्य संदूकची में छिपा कर रखा हुआ है, जोकि अपने रंग-बिरंगे जादूई प्रभावों से भरे होने के कारण, तथाकथित ज्ञानियों को भी स्थूल-शारीरिक चेतना में ही बांधे रखती है।

पहलवान-मल्ल, शारीरिक-सौष्ठक बनाने वाले, और चार्वाक् अर्थात् विषयानंदी व्यक्ति, जोकि शारीरिक स्वास्थ्य और सुख को ही जीवन का उद्देश्य मानते हैं, वे अन्नमय जीवों की श्रेणी में आते हैं, जोकि सिर्फ़ इसी लक्ष्य के लिये जीवित रहते हैं और मरते हैं। इसके आगे, कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जोकि थोड़े साहसी, उद्यमी और अध्यवसायी हैं। वे अपने विचारों, आदर्शों और विश्वासों तथा अपने भौतिक स्वरूपों को पालते-पोसते हैं तथा समय-समय पर अपने सांसारिक सुखों का बलिदान करके भी उन पर स्थिर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति प्राणमय जीव होते हैं, क्योंकि वे प्राणों द्वारा अनुशासित होते हैं, जिन पर कि समस्त जीवन आधारित है तथा उन में जल-तत्व की प्रधानता होती है, क्योंकि प्राण का अर्थ है– जीवन और जीवन, जल का परिणाम है। छांदोग्य उपनिषद् में यह कहा गया है कि भोजन के बजाय पानी ही जीवन का स्रोत है, और यह पानी ही है, जिस पर जीवन निर्भर करता है। पुनश्चः, जो व्यक्ति दृढ़ भावनाओं व मनोभावों से सम्पन्न हैं, वे लगातार अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा मनस्तत्व से ही जुड़े रहते हैं, क्योंकि उनमें अग्नि तत्व की प्रधानता होती है। तमाम कविगण, लेखकवृन्द, आविष्कर्ता, प्रारूपकार व वास्तुकार आदि मनोमय जीवों की श्रेणी में आते हैं। उनकी तमाम शक्ति मनोन्मुखी होती है और वे अपने हृदय के निकटतम व प्रियतम कार्य-कलापों में व्यस्त रहते हैं। वे मन के मार्ग पर चलते हुए बलिदान हो जाते हैं। उससे आगे, ऐसे व्यक्तियों की श्रेणी हमारे सामने आती है, जो अपने शारीरिक सुखों तथा विचारों, विश्वासों और मानसिक उद्देश्यों का उचित ध्यान रखते हुए भी, मुख्यरूप से बौद्धिक तर्क-वितर्क या बुद्धि-विचार द्वारा विभिन्न वस्तुओं के बारे में 'क्यों और कैसे' की जिज्ञासा को हल करने में लगे रहते हैं। वे विज्ञानमय जीवों की श्रेणी में आते हैं और अपने अन्दर वायुस्तत्व की प्रधानता को धारण करते हैं तथा उसी से प्रभावित होते हैं। मानव सृष्टि में सर्वोत्तम स्तर आनन्दमय जीवों का है, जोकि अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा परमानंद एवं सच्चे सुख को प्राथमिकता देते हैं– वे सदैव इसी की खोज में लगे रहते हैं और तब तक

विश्राम नहीं करते, जब तक कि वे इसे पाकर अपने जीवन में नहीं उतार लेते। वे आकाशीय व्यक्ति होते हैं और सर्वव्यापी नभ में निर्बाध-गति से निवास व विचरण करते हैं। यह कोष अन्य आवरणों की अपेक्षा सर्वाधिक सूक्ष्म है, जिसके आगे स्वयं 'निर्वाण' की अवस्था स्थित है, जोकि किसी भी कोष से निर्बाध, अखंड आनन्द है। यह सर्वज्ञता में निहित उत्कृष्ट चैतन्य विश्राम की एक अकथनीय प्रशांत अवस्था है।

2. अष्टांग-योग तथा आधुनिक मानव

इस प्रकार *यही योग प्रणाली का विस्तार और संक्षेप है, जैसा कि मूलरूप में हिरण्यगर्भ ने प्रस्थापित किया और प्रसिद्ध दार्शनिक व विचारकों, महर्षि गौड़पादाचार्य तथा महर्षि पातंजलि ने व्याख्या करके उसे विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। इन थोड़े से पृष्ठों में यह कोशिश की गई है कि पुरातन काल से हमें विरासत में प्राप्त हुई विद्या, जिसे आज भी भारत के पुरातन ज्ञान की मुख्य-शिला माना जाता है, का संक्षिप्त विवरण दिया जा सके।*

योग-प्रणाली एक ऐसा अनुशासन है, जिसमें मन व प्राण अनुशासित व नियंत्रित करने हेतु कठोर व एकांत ध्यान, शारीरिक व्यायाम व आसन आदि का समन्वयीकरण है, जिससे वे एक निश्चित तरीक़े से क्रियान्वित होकर इन्द्रिय-दमन में सहायक हो सकें। अतः इसका प्रयोग शरीर और मन की सफ़ाई के लिये किया जाता है, जिससे कि आनन्दप्रद आंतरिक दृष्टि प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो सके। ईश्वर की भक्ति भी यौगिक अनुभूति में एक मुख्य भूमिका निभाती है। योग-दर्शन का इष्ट (Personal God) इस योग-प्रणाली में प्रथक् रह जाता है, क्योंकि कुछ योगियों के लिये अंतिम लक्ष्य, मनस्तत्तव से आत्मा को अलग करना मात्र है, न कि परमात्मा के साथ जुड़ना। इसलिये यह प्रणाली, सदैव द्वैतवाद के सीमाक्षेत्र में ही काम करती है। इसका मुख्य उद्देश्य आवरणों में लिपटी जीवात्मा को मन व पदार्थ के प्रतिबन्धों से आज़ाद हो कर, शारीरिक अवस्था से पृथक् करना है, ताकि वह आत्मरूप हो सके। उस अवस्था में, विवेकशील इच्छाशक्ति तथा उच्छृंखल मन– दोनों ही अपने-अपने कार्य-कलापों को रोक कर, शांत हो जाते हैं तथा आत्मा को स्वतंत्र छोड़ देते हैं, जिससे कि वह अपनी वास्तविक अवस्था में, स्वप्रकाश में चमक सके।

यौगिक अभ्यास सामान्यतः स्वास्थ्य, बलिष्ठता और दीर्घजीवन प्रदान करते हैं और कुछ हद तक बीमारी, क्षय व अकालमृत्यु से बचने में मदद करते हैं। व्यक्ति प्रकृति तथा उसके नियमों को नियंत्रित करके, मानसिक व अलौकिक शक्तियाँ भी प्राप्त कर सकता है। इन्द्रियों की शक्ति-क्षमता बढ़ जाने से, योगी किसी भी दूरी से सुन व देख सकते हैं, भूत व वर्तमान, और भविष्य तक में देख सकते हैं, विचारों को संप्रेषित कर सकते हैं तथा चमत्कार कर सकते है।

बहुत से आधुनिक विद्वानों का, विषेशकर पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित विद्वानों का, जब पहले-पहल योग से परिचय हुआ, तो उन्होंने इसे आत्म-सम्मोहन (self-hypnotism) की विस्तृत साधना से कुछ अधिक नहीं समझ कर, इसे त्याग देना उचित समझा। ऐसी धारणा बिल्कुल अवैज्ञानिक है, यद्यपि इसे प्रायः विज्ञान के रूप में दर्शाया जाता है। यह प्रायः इस विषय के बारे में सतही ज्ञान या अज्ञान तथा पक्षपातपूर्ण रवैये का ही परिणाम है। यह हमारे लिये स्वाभाविक ही है कि जिस विषय से हम अपरिचित हैं, या जो हमारे हम जीवन के प्रति आदतन विचारों, जिनके हम अभ्यस्त हैं, उनसे अलग है, उसे हम अंधविश्वास के दायरे में ढकेलने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि उन्हें पढ़ना, समझना, उनकी परीक्षा करके अंगीकार करना इत्यादि में निरन्तर परिश्रम और दृढ़ता की आवश्यकता होती है, जिसमें हममें से अधिकांश असमर्थ होते हैं। यह असंभाव्य नहीं है कि कुछ तथाकथित योगी 'स्वयं-सम्मोहन' के नामकरण को उचित ठहरायें। लेकिन, संक्ष्या में बहुत थोड़े, जो वास्तव में ही 'योगी' नाम को सार्थक करते हैं, वे इतने विनम्र होते हैं कि वे ख्याति से बहुत दूर रहते हैं और अकारण भय से पीड़ित रोगी-पलायनवादी (neurotic-escapist) होने को कोई संकेत नहीं देते। वे जीवन की सभी जटिलताओं के बीच में भी उसके प्रति प्रशंसनीय संवेदनशील जागरूकता दर्शाते हैं। उनकी यह जागृति, उनकी विनम्रता के साथ मिलकर, आत्म-सम्मोहन की सभी संभावनाओं को निर्मूल, निरर्थक और हास्यास्पद तक सिद्ध करती हैं। क्योंकि परिर्वतनशील के पीछे अपरिवर्तशील को, और असत् दृष्यप्रपंच के पीछे छिपे 'सत्' को खोजना स्वयं को सम्मोहित करना कदापि नहीं है। कुछ और नहीं, तो यह केवल खोजने की लगन को ही दर्शाता है, जोकि अपनी सत्य निष्ठा व ईमानदारी में बेजोड़ है,

और जोकि परिपूर्ण 'सत्' के अतिरिक्त किसी अन्य से संतुष्ट होने वाला नहीं है तथा जिसमें जिस प्रकार के त्याग की आवश्यकता होती है, उसका जीवन में धारण कर पाना अत्यंत कठिन है। अत: ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जाता है, ज्यों-ज्यों ज्ञान धीरे-धीरे अज्ञान को जड़ से काट रहा है, पुरातन विषयासक्तवाद (Philistism) धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। भौतिक विज्ञान की नई खोजों का भी इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में कम योगदान नहीं है, क्योंकि विज्ञान के विकास ने यह रहस्योद्घाटन किया है कि इस ब्रह्मांड में सभी कुछ सापेक्षिक (relative) हैं, तथा कोई भी पदार्थ वास्तव में ठोस पदार्थ नहीं है, परन्तु अंततोगत्वा, ऊर्जा का ही एक स्वरूप है। इस प्रकार, कम से कम निचले स्तर पर ही, इसने योग-प्रणाली में निहित सृष्टि की संकल्पना के सिद्धांत की पुष्टि की, जिससे इसे वैज्ञानिक मान्यता मिली, तथा जिस पर पहले सन्देह किया जाता था।

अब यदि अष्टांग-योग के आधार को मान भी लिया जाये, जैसा कि हमें महर्षि पातंजलि से विरासत में प्राप्त हुआ है, तो भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इस का अभ्यास करना कहीं आसान नहीं है। महर्षि गौड़पादाचार्य जी ने भी यह माना है कि इसका अनुसरण करना मा'नो समुद्र को एक तिनके के सहारे बूंद-बूंद करके ख़ाली करने के प्रयत्न के समान है। अत: प्रारम्भ में जब अष्टांग-योग का विकास किया गया, तब भी इसके लिये बहुत उच्च प्रकार के कठोर अनुशासनबद्ध जीवन की आवश्यकता थी, और चार आश्रमों की प्रणाली का विचार इसका अनिवार्य परिणाम निकला। यदि किसी को कुछ ठोस अनुभव प्राप्त करना था, तो उसे बचपन से ही प्रारम्भ करना होता था। जीवन के प्रथम 25 वर्षों का 'ब्रह्मचर्य' इसीलिये प्रयुक्त करना होता था, कि इससे मन व तन सही प्रकार से विकसित हो सकें, ताकि शारीरिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य जीवन की कठिनाइयों को वहन करने लायक बन सके। 'गृहस्थ' आश्रम के अगले पच्चीस वर्ष, एक घरेलू जीवन में, परिवार के मुखिया के रूप में, बुजुर्गों के सेवक के रूप में, पत्नी के सहयोगी के रूप में, तथा बच्चों के कुशल शिक्षक के रूप में व्यतीत करना होता था। सामाजिक कर्त्तव्यों के निर्वाह करने तथा जीवन का पूरा अनुभव कर लेने के पश्चात्, जब मृत्यु उसके निकट आ रही हो, ही व्यक्ति उस समय इसके आंतरिक आशय को समझने

के लिये आज़ाद तथा इसको जानने-समझने के लिये सक्षम हो पाता था; और इसलिये, तत्पश्चात् अगले पच्चीस वर्ष 'वानप्रस्थ' आश्रम में, पर्वतों एवं जंगलों के एकांत में तब तक व्यतीत करना होता था, जब तक कि विभिन्न साधनाओं एवं कठोर ध्यान-अभ्यास के ज़रिये ज्ञानोदय प्राप्त न हो जाये। अब अंत में, व्यक्ति 'सन्यासी' कहलाने योग्य बन पाता था तथा सौ वर्षों के जीवन काल (जैसा एक सम्पूर्ण जीवन की परिकल्पना है) के अंतिम चतुर्थांश में वह अपने साथियों को आध्यात्मिक स्वतंत्रता की खोज करने में सहायता करने में व्यतीत करने योग्य हो पाता था।

पुराने समय में भी, चार आश्रमों का आदर्श जीवन इतना आसान नहीं था। अत: इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि योग-प्रणाली कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित थी और जन-साधारण के लिये उसका प्रचार-प्रसार नहीं किया जाता था, और इस प्रकार इसे एक रहस्य-विद्या के रूप में, जिसकी ज्योति गुरु से साधक-शिष्य को प्राप्त होती थी, प्रतिबंधित रूप में ही क्रियान्वित किया जाता था। आधुनिक हालातों में, इस विद्या का इस रूप में प्रतिपादन पहले की अपेक्षा अधिक कठिनतर होती गया है और लगभग असम्भव ही हो गया है। जैसे-जैसे जीवन पहले से अधिक जटिल हो गया है और विविध व्यवसाय अत्यधिक विशिष्ट बन चुके हैं, मनुष्य के लिये पहले 25 वर्ष मन व शरीर के विकास में, अंतिम लक्ष्य के साधन हेतु, लगाना इस युग में बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। ये 25 वर्ष अब उन्हें अपने विद्यालय (school), महाविद्यालय (college) व उन संस्थानों में व्यतीत करने पड़ते हैं, जो उनकी तमाम ऊर्जा को उनके जीविका-साधन के निर्माण हेतु उन्हें प्रशिक्षित करने में लगा देते हैं। और फिर, निरन्तर बढ़ती रहने वाली जनसंख्या के इस युग में, जन-समान के एक तिहाई गृहस्थ सदस्यों के लिये यह भी सम्भव नहीं है कि वे शेष तीन-चौथाई सदस्यों के भौतिक निर्वाह की व्यवस्था कर सकें, जैसा कि शायद पहले कभी सम्भव था।

मा'नो यह भी काफ़ी नहीं था, पतंजलि के अष्टांग-योग ने समय व्यतीत होते-होते जटिल और अधिक विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लिया। इसकी प्रत्येक शाखा का इतना अधिक विकास कर दिया गया कि अब इसकी एक-एक शाखा अपने में ही एक सम्पूर्ण विषय प्रतीत होता है। इसलिये

यह अचंभे की बात नहीं है कि विभिन्न यम-नियमों तथा आसनों या प्राणों या मानसिक शक्ति के नियंत्रण में लगा हुआ व्यक्ति अपने विशिष्ट क्षेत्र को पतंजल अष्टांग-योग का एक अंग या सीढ़ी मानने की अपेक्षा, उसी को सम्पूर्ण योग मान बैठता है। निस्सन्देह वह जो कुछ भी अभ्यास करता है, उससे कुछ न कुछ लाभ प्राप्त करता ही है, वह प्रायः कुछ रहस्यमयी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है। परन्तु यही उपहार उसके ध्यान को अंतिम ध्येय से हटा कर, उसकी वास्तविक तरक़्क़ी में सहायक बनने के बजाय, सकारात्मक विघ्न बन जाते हैं। हमारे युग में, ऐसी साधकों की संख्या लगभग नगण्य होगी, जोकि विशिष्ट शारीरिक क्षमता रखते हों, दीर्घजीवी हों तथा अंतिम लक्ष्य को याद रख पाने की असाधारण योग्यता रखते हों, और वे पातंजल अष्टांग-योग को सम्पूर्ण रूप से अंतिम लक्ष्य प्राप्ति तक अनुसरण कर सकें, जिसका सर्वोत्तम उद्देश्य ब्रह्म से एकत्व है। बाक़ी लोगों के लिये या तो इस अष्टांग-योग का अभ्यास अत्यंत कठिन रह जाता है, या फिर उसे बीच की सीढ़ियों को ही अंतिम लक्ष्य तथा साधनों को ही लक्ष्य मान कर भ्रमित हो जाने के लिये उत्तेजित किया जा सकता है, और इस प्रकार इसका उद्देश्य ही समाप्त किया जा सकता है।

यदि आत्म-विद्या को योग की सीढ़ी के सभी दुरूह व जटिल पदों से, जिनका इस विद्या से ता'ल्लुक है, हो कर ही धीरे-धीरे आगे बढ़ना आवश्यक होगा, तब तो यह मानव समाज के लिये गुप्त ही बना रह जायेगा। इसके विपरीत, यदि इसे प्रकृति की मुफ़्त भेंट-उपहार बनना हो- जैसे कि सूर्य, वायु, पानी आदि हैं, तो इसे किसी तकनीक से इतना आसान बनना होगा, जिससे कि यह सभी मनुष्यों अर्थात् बच्चों-वयस्कों, कमज़ोर-सशक्त, गृहस्थ-सन्यासी– सभी की पहुँच के भीतर आ सके। ऐसी ही एक तकनीक, जिसकी आशा हमें कबीर तथा नानक ने हमें दी, का विस्तृत प्रतिपादन हम बाद में करेंगे।

तृतीय अध्याय

योग के विविध प्रकार

महर्षि पतंजलि *द्वारा संस्थापित योग प्रणाली का सामान्य रूप से वर्णन करने के पश्चात् अब हम योग के उन विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करेंगे, जोकि उसके बाद विकसित हुए। परम्परागत से प्रारम्भ करके, हमें चार विभिन्न प्रकार के योग बताये गये हैं :* ***1.*** *मंत्र-योग,* ***2.*** *हठ-योग,* ***3.*** *लय-योग और* ***4.*** *राज-योग। इसमें से अधिकतर मुख्यत: पतंजलि योग पर ही आधारित हैं और उनकी मूल शिक्षाओं का ही परिष्कृत रूप हैं, प्रत्येक उसके ही किसी न किसी पक्ष में विशिष्ट दक्षता रखता है। इस प्रकार, कुछ अंश बार-बार दोहराये जाने को टाला नहीं जा सकता। फिर भी, यदि इससे योग के विस्तृत विषय का स्पष्टतर विवरण प्राप्त होता हो, तो हमें यह जोख़िम उठा लेना ही चाहिए।*

1. मंत्र-योग अथवा जाप करने का योग

वे यह भी भूल जाते हैं कि सभी देवता मनुष्य के हृदय में निवास करते हैं।

– विलियम ब्लेक [William Blake- 'Proverbs of Hell']

मंत्र-योग *मुख्यत: किसी विशेष मंत्र या ज़ुबानी नुस्ख़े को लगातार दोहराने (जप करने) के द्वारा तत्सम्बंधी अधिष्ठाता शक्ति अथवा प्रधान देवता को आकर्षित करके, किसी एक या दूसरी जड़ या मानसिक शक्ति या शक्तियों की प्राप्ति करके उसकी शक्ति को अभ्यासी के संकल्प और इच्छानुसार, किसी अच्छे या बुरे कार्यों में नियुक्त करने से संबंधित है। जो कोई इन शक्तियों को दूसरों के नुक़्सान या बुरा करने के लिये प्रयुक्त करता है, उसे प्राय: आत्मदाह का ख़तरा होता है और वह प्राय: तत्संबंधित देवता के कोप का शिकार हो जाता है। जो लोग ऐसी शक्तियों को दूसरों की क़ीमत पर किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिये या सांसारिक लाभ-प्राप्ति के लिये*

प्रयुक्त करते हैं, वे शीघ्र ही अपनी शक्ति खो बैठते हैं और अंत में वे स्वयं को ही नष्ट कर लेते हैं। परन्तु, दूसरों की भलाई के लिये शक्तियों को लाभप्रद ढंग से प्रयुक्त किया जा सकता है और इस कार्य में कोई अधिक हानि भी नहीं, हालाँकि प्रत्येक ऐसे कार्य के बाद तेजस्विता (Vital energy) का कुछ ह्रास होता है। सभी प्रकार के निम्नतम क़िस्म के चमत्कार, जैसे किसी के विचार पढ़ लेना, विचारों का आदान-प्रदान, निष्ठा-चंगाई (Faith *healing), विशेषतः स्नायु रोग या मानसिक रोग सम्बंधी समस्याओं का निदान, इसी श्रेणी में आता है। इसलिये, यह बेहतर है कि इस तरह की चीज़ों को नज़रअंदाज़ किया जाये और जो मानसिक शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं, उन्हें कम से कम निचले आत्मिक मंडलों की प्राप्ति के लिये, निस्स्वार्थ भाव से प्रयुक्त करे, जोकि तत्सम्बंधित देवताओं के स्थान हैं। इस प्रकार सभी मानसिक शक्तियाँ अपने आप ही कार्य करेंगी और उनके प्राप्त कर लेने से उसकी शक्तिसम्पन्नता में कोई घाटा भी नहीं होगा। फिर भी मन में यह ध्यान रहे कि केवल मंत्र का लगातार उच्चारण किसी भी प्रकार से फलदायक नहीं होगा, यदि यह उस विशिष्ट मंत्र पर ध्यान एकाग्र करके पूरी तन्मयता से नहीं किया जाये व मंत्र की पूरी धारणा, अत्यंत उत्साहपूर्ण भक्तिभाव से न की जाये, जिससे कि तत्सम्बंधी तरंगें प्रस्फुटित हों। परन्तु, आत्म-अनुभव के मार्ग में, मंत्र-योग स्वयं में किसी काम का नहीं तथा प्रायः जो व्यक्ति इस प्रकार की योग साधना करते हैं, वे किसी एक या दूसरे प्रकार की व्यर्थ की कार्यकलापों में उलझे रहते हैं, जिनका उनकी स्वयं या आत्मा की तरक़्क़ी में कोई लाभ नहीं होता।*

मंत्र-सिद्धि या मंत्रों पर ध्यान एकाग्र करके प्राप्त की गई अलौकिक शक्तियों के प्रयोग आदि के बारे में महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में चेतावनी भी दी है :

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥

– योगदर्शनम् (III:38)

(वे {छः प्रकार की} सिद्धियाँ सामाधि-प्राप्ति में विघ्न हैं और वे सिद्धियाँ केवल इस नश्वर संसार में ही काम की।)

मंत्र–योग की क्रियाविधि

मंत्र-योग वायुरुद्ध तरीक़े से मुहरबंद किए (hermetically sealed) पवित्र व गुप्त मंत्रों के लयात्मक आवृत्ति (rhythmic repetition) का योग है, जिनकी रचना पुरातन मंत्रकार ऋषियों ने की थी, जोकि स्वरविद्या (phonetics) में, जिसमें स्वरविज्ञान, स्वरों की शक्ति तथा ध्वनि की गति से भी तेज़ या मनुष्य की श्रवण-शक्ति से परे की ध्वनियाँ सम्मिलित हैं, निपुण थे। इनमें से प्रत्येक मंत्र को अलग तरह से प्रकृति की किसी न किसी जड़ शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले देवी या देवता को प्रसन्न करने के लिये निर्मित किया गया। इन्हें रुद्राक्ष की माला के साथ जैसा शैव प्रयुक्त करते हैं, तुलसी की माला के साथ जैसा वैष्णव प्रयुक्त करते हैं, या माला के बग़ैर भी अभ्यास में प्रयुक्त किया जा सकता है।

मंत्र तरंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैदिक मंत्रों मे सब से पवित्र गायत्री-मंत्र है। यह वेदों का मूल मंत्र है और इसीलिये प्राथमिक महत्त्व का है। इसके गुण महान हैं और इसका जाप या उच्चारण सभी हिन्दुओं को बचपन से ही अनिवार्य रूप से सिखाया जाता है। ॐ (ओ३म्), जोकि सर्जनात्मक जीवन-तत्व का वाचक है, सबसे सरल व प्रभावकारी शब्द है और इसीलिये अधिकतर मंत्र इसी पावन शब्द से प्रारम्भ होते हैं। अद्वैतवादी, जोकि सभी रूपों में एवं सर्वत्र परमात्मा की शक्ति को ही व्याप्त व सर्वव्यापी देखते हैं, वे आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य होने के मंत्र में विश्वास करते हैं- 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं परमात्मा हूँ) तथा 'अयं आत्मा ब्रह्म:' (यह आत्मा ही परमात्मा है) और इन्हें प्राय: संक्षिप्त करके 'सोहं' या 'सोहंग' (वह मैं हूँ) तथा 'हंस:' (मैं वह हूँ), या 'अहंस:' (वह मैं हूँ) कहा जाता है। वेदांती 'ओं तत् सत्' (ॐ सत्य और वास्तविकता है), तथा बौद्ध 'ओं मणि पद्मे हम्' (ॐ कमल में मणि की तरह प्रकाशवान ज्योति है) मंत्रों को दोहराते हैं। इस श्रृंखला में आगे ऐसे मंत्र हैं, जोकि किसी एक या दूसरे देवता की आराधना, प्रशंसा तथा कृपालुता या वरदान-याचना आदि के लिये प्रयुक्त होते हैं।

मंत्र का प्रभाव, उसके सही उच्चारण, उसके सही महत्त्व की, जोकि अक़्सर गंभीर होता है, सही जानकारी रखने में तथा जो व्यक्ति मंत्र-योग

का प्रयोग कर रहा है, उसकी सही धारणा पर निर्भर करता है। मंत्र की सफलता मंत्रदाता गुरु के, जिसने मंत्र की तकनीक ही नहीं, उस के इष्ट देव तथा मंत्र की बीजशक्ति को भी अपने समक्ष प्रकट किया हो (जोकि मंत्र के हृदय में अन्दर छिपी होती है और समर्थ गुरु ही उसे प्रसाद या भेंट रूप में आगे शिष्य को प्रदान कर सकता है), सामर्थ्य पर भी निर्भर करती है।

कुछ मंत्र शीघ्रफलित होते हैं, कुछ अपना उचित समय लेकर ही फलप्रद होते है और कुछ साधक की व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार फलित होते हैं। कुछ ऐसे मंत्र हैं, जिनका प्रयोग, प्रतिकूल स्वभाव के होने के कारण, वर्जित है और अधिकतर अवस्थाओं में वे हानिकारक ही सिद्ध होते हैं। फिर, मंत्र का प्रभाव इस पर भी निर्भर करता है कि जप किस प्रकार से किया गया है। जो जप फुसफुसाकर से किया जाये, वह ज़ोर से बोलने की अपेक्षा श्रेष्ठतर माना जाता है और जो जप उससे भी नीचे स्वर में किया जाये, वह उससे भी बेहतर है और मानसिक जप (जो केवल विचार की जिह्वा से किया जाये) सर्वश्रेष्ठ है।

कर्ता के संकल्प तथा अवसर और ऋृतु के अनुसार, जप भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरणतः,'नित्यजप' दिनचर्या के समान नियमित रूप से प्रतिदिन किए जाते हैं। 'नैमित्तिक जप' कुछ विशेष उत्सवों पर किए जाते हैं। 'प्रायश्चित्त जप' धर्म के मार्ग से विचलित हो जाने पर पछतावा करने के लिये तप के रूप में किए जाते हैं। फिर, 'चल' और 'अचल' जप होते हैं, जिन्हें किसी भी समय, किसी भी स्थान पर, किसी भी अवसर पर, किसी भी आसन में और किसी भी अवस्था में कर सकते हैं। कुछ ऐसे जप हैं, जिन के लिये विशिष्ट प्रकार के आसन, स्थान, दिशा, समय आदि की आवश्यकता होती है और साथ ही में नियमित तथा विस्तृत रीति से पूजा, पुष्पांजलि, धूप, दीप, अगरबती, घंटाध्वनि, हवन, तर्पण (अग्नि एवं जल के साथ) तथा अनेक शुद्धिकरण कर्म आदि करना आवश्यक होता है।

मंत्र-योग में सफलता के लिये आवश्यक है कि साधक अपने अन्तर और बाहर की पवित्रता रखे, पूरे हृदय से भक्तिभाव रखे, अनुकरणीय चरित्र व व्यवहार बनाकर रखे, ताकि ध्यान व एकाग्रता में उसे कुछ सफलता मिले।

ऐसे ही अभ्यास हम मुस्लिम फ़कीरों में भी देखते हैं जो 'विर्द' अर्थात् पवित्र शब्द, जैसे कि 'हू', 'हक़', 'अनल-हक़' आदि का उच्चारण करते हैं और इसके लिये 'तस्बीह' (माला) का प्रयोग करते हैं। ईसाई साधु

(monks) *भी अपनी माला* (rosary) *जपते हैं और भजन तथा प्रार्थना-गीतों* (psalms) *का पाठ करते हैं।*

2. हठ-योग

योग *का यह स्वरूप मन को शांत करने के लिये, शरीर व शरीर के क्रिया-कलापों को नियंत्रित करने से संबंधित है। इसका उद्देश्य शरीर को सुदृढ़ व सुयोग्य बनाना है, ताकि यह कठिनतम और कष्टप्रद हालातों को सहन कर सके और जहाँ तक हो सके, यह शारीरिक व्याधियों व रोगों से मुक्त रह सके। परन्तु, एक सशक्त शरीर व दीर्घजीवी जीवन के अतिरिक्त, जो व्यक्ति प्राणायाम या 'हब्स-ए-दम' से (जैसा मुस्लिम इसे कहते हैं) प्राप्त करता है, यह अपने आप में आत्म-अनुभव में कोई ज़्यादा सहायक नहीं होता, यद्यपि यह उस दिशा में उच्चतर प्रकार की आध्यात्मिक साधना के लिये कुछ हद तक ज़मीन की तैयारी का काम करता है। यह एक प्रकार से राज-योग के लिये एक सीढ़ी के समान है। यह मन को कोई अधिक नियंत्रण नहीं देता, जैसा कि प्राय: इससे अपेक्षा की जाती है। हठ-योग के अभ्यास से साधक को कुछ सिद्धियाँ, अलौकिक शक्तियाँ प्राय: विशेष आसन, मुद्रा, बंध तथा प्राणायाम के अभ्यास और अन्य शारीरिक अभ्यासों आदि से प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रणाली में कई प्रकार के तप, त्याग व संयम, यथा व्रत, जागरण, मौन-व्रत (जोकि महीनों व वर्षों चलता हो), 'पंचाग्नि तप' (चारों तरफ़ आग जलाकर बीच में बैठना तथा ऊपर से सूर्य की धूप में तपना), एक पैर पर खड़े रहना, शीर्षासन में लटके रहना, इत्यादि सम्मिलित हैं। कुछ ईसाई धर्मात्मा तो इस मामले में अत्यंत सीमा तक पहुँचे, जैसे कि कीलों से जड़े कुरते पहनना, घोड़े के बालों की कमीज़े पहनना, शरीर को यातना देना, अपने को कोड़े लगाना और तमाम अन्य यातनायें सहन करना, जो सभी ईसा मसीह को दी गई यातनाओं व यंत्रणाओं की नक़ल है। शिया मुसलमानों में भी स्वयं-यंत्रणा देखने को मिलती है, जब कि मुहर्रम के अवसर पर वे छाती पीट-पीट कर तथा कमर पर मोटे लोहे के ज़ंजीरों पर लगी सलाखों से अपने को मार कर लहू-लुहान करते हैं। ऐसा वे पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद के पोतों, हसन और हुसैन के भयंकर बलिदान की याद में करते हैं, जिनका सामना उन्हें*

अपने थोड़े से धर्मावलंबी साथियों के साथ अपने धर्म की रक्षा करते हुए करबला के मैदान में, याज़िद के नेतृत्व में अपने सहधर्मियों के साथ युद्ध में करना पड़ा था। यह सभी आत्म-त्रासकारक कष्टों का– चाहे कितने भी शौर्यपूर्ण क्यों न हों– कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता है। शरीर को कष्ट व यातनायें देने का क्या लाभ, जबकि मनरूपी साँप सतह के भीतर सुरक्षित रूप से छिपा पड़ा रहता है?

और इस प्रकार की यंत्रणाओं को परे रखकर, हठ-योग का सही उद्देश्य यह है कि शरीर को उच्चत्तर प्रकार के योगों के लिये तैयार किया जा सके और इसीलिये इसका कुछ मूल्य भी हो सकता है, ताकि यह शरीर को उन में होने वाले दबाब और तनाव के कष्ट को झेलने के योग्य बनाये। परन्तु, हठ-योग की नित्यचर्या की क्रियाओं को भी करना अत्यंत कठिन होता है और उन्हें करने से कभी-कभी गंभीर और असाध्य और जीवन को ही ख़तरे में डालने वाली आंतरिक समस्यायें हो जाती हैं।

हठ-योग की क्रियायें शरीर के अन्दर की नाड़ियों, नसों आदि में जमा हुए खनिज की– जैसे कि खड़िया, चूना, नमक आदि से, जोकि रक्त-प्रवाह को रोकते हैं और बीमारियों के मूल कारण हैं– सफ़ाई करने में बड़ी सहायक होती हैं। विष-निष्कासन एवं नवीनीकरण की इन शुद्धिकरण प्रक्रियाओं को षट्कर्म या छः प्रकार के कर्म कहा जाता है, जोकि इस प्रकार हैं :

1. नेति कर्म (नाक की सफ़ाई करना)

पतले मलमल का तीन-चौथाई गज़ लंबा टुकड़ा लेकर उसको धागे जैसा ऐंठकर उसे मोम से लपेटा जाता है। उसे प्रत्येक नासिका-छिद्र से बारी-बारी से अन्दर डालकर मुँह के अन्दर से निकाल कर, थोड़ा रगड़ करके, ताकि नाक और मुँह के छेदों के अन्दर का बलग़म साफ़ हो जाये, बाहर वापस निकाल लिया जाता है। यह क्रिया गले और नाक की बीमारियों को ठीक करती है। इससे मस्तिष्क ठंडा रहता है और आँखों की ज्योति बढ़ती है। नाक, आँख की बीमारी या अम्लता (acidity) से परेशान व्यक्ति इसे, जल नेती यानी नाक के रास्ते से साफ़ पानी अन्दर डालने की क्रिया में बदल सकते हैं।

2. धौति कर्म (पेट को धोना)

तीन इंच चौड़ा मलमल का कपड़ा, जोकि लगभग सात गज़ लंबा हो और गुनगुने पानी में भिगोया हुआ हो, उसे थोड़ा निचोड़ करके धीरे-धीरे गले के अन्दर डाल कर सटकना होता है, ताकि वह पेट में पहुँचे और गर्म पानी के साथ उसे धीरे-धीरे अन्दर निगलना होता है, जिससे कि अंतिम दो फुट बाहरी सिरा मुँह के बाहर हाथ में पकड़ा रह जाये। फिर उस कपड़े को कुछ मिनट पेट के अन्दर रख कर, पेट को हिला कर, बहुत धीरे-धीरे बाहर निकाल लिया जाता है। इस से खाने की नली की गंदगी, पित्त, बलग़म आदि साफ़ होकर कपड़े में लिपट कर बाहर आ जाती है। यह बढ़ी हुई तिल्ली व खाँसी का निदान करता है। इस क्रिया में अत्याधिक सावधानी की आवश्यकता है, ताकि कपड़ा अन्दर अंतड़ियों में अटक न जाये और कोई भंयकर समस्या खड़ी न हो जाये, जो अंततोगत्वा घातक भी हो सकती है। गले की सूजन, श्वसनली की गड़बड़, पेट की सूजन तथा कफ़ उभरने पर इसे नहीं किया जाना चाहिए।

3. बस्ति कर्म (अंतड़ियों के अन्दर की सफ़ाई करना)

यह एक प्रकार का अंतड़ियों की आंतरिक सफ़ाई का तरीक़ा (enema) है, जिसमें गुदा के रास्ते पानी को अन्दर निचली आँत में खींचा जाता है। कुछ देर तक इसे अन्दर रखकर दायें-बायें घुमाकर बाहर निकाल दिया जाता है। यह कब्ज़ को दूर करता है तथा अन्दर जमे सख़्त मैल की परतों को, जो अन्दर की दीवारों पर चिपकी रहती हैं, धोकर, बाहर निकाल फेंकता है। गुनगुने पानी में थोड़ी ग्लिसरीन मिलाने से यह ज़्यादा लाभप्रद होता है। इसका प्रयोग पुरुष के जनन-अंग व गुदा से संबंधित रोगों का उपचार करने में किया जाता है। इससे अनेक बीमारियाँ दूर होती हैं– जैसे पित्त या लसीका के वात-विकार तथा तिल्ली व जिगर के रोग। बस्ति को प्रतिदिन करने से यह अंतड़ियों की कोमल परत को हानि पहुँचा सकता है, अतः इसमें सतर्क मार्ग-दर्शन की आवश्यकता होती है। यदि आवश्यकता हो, तो इसके स्थान पर वायु के द्वारा शोधन किया जा सकता है, जिसमें पानी के स्थान पर हवा को खींचा व निकाला जा सकता है।

4. गजकरणी या कुंज कर्म

इसे 'शंख पशाल' भी कहते हैं। इस क्रिया में पेट भर पानी पी कर, माँसपेशियों की क्रिया के द्वारा अन्दर गटक कर मुँह के द्वार से बाहर निकालना होता है, जैसे कि हाथी अपनी सूंड से करता है। इस प्रकार, दो या तीन क्वार्ट (quart) गुनगुने पानी को पीकर पेट की माँसपेशियों को गोल-गोल हिला कर सफ़ाई करके मुँह से बाहर उलट दिया जाता है। यह विशषकर उनके लिये लाभदायक है, जो पित्तदोष या अम्लता की शिकायत रखते हैं।

5. नियोली कर्म (पेट को हिलाना)

यह सिद्ध या पद्म आसन में सीधा बैठ कर किया जाता है, जिसमें हाथों को घुटनों पर टिकाया जाता है। शरीर का ऊपरी भाग, आंतड़ियों समेत, दायें से बायेँ की ओर तीव्रता से घुमाया जाता है, जिससे आंतों के अन्दर जमी मैल की परतें बाहर निकल जाती हैं। इस अभ्यास से पेट में वायुविकार व उससे संबंधित बीमारियों, पाचक द्रव के उत्सर्जन से ठीक की जाती हैं। यह क्रिया माँसपेशियों के संकुचन में मदद करती है, जिससे यौगिक स्वसन या प्राणायाम में सहायता मिलती है।

6. त्राटक कर्म (दृष्टि स्थिर करना)

यह एक दृष्टि-साधना है और इसमें दृष्टि को पहले शरीर के बाहर और फिर धीरे-धीरे अन्दर के केन्द्रों पर स्थिर करते हैं, जैसा कि पहले योग-विद्या और योग-साधना के अध्याय में प्राणायाम के भाग में विस्तृत रूप से वर्णित है। इससे दृष्टि की स्थिरता दृढ़ होती है और जब इसे अंतर्मुख किया जाता है, तो साधक आंतरिक त्रिकुटी जगत के, जोकि योगियों का सर्वोत्तम स्वर्ग है, दृश्य को देखना प्रारम्भ कर देता है।*

---

* बाबा ग़रीबदास हमें बतलाते हैं कि योगी तीसरे तिल को 'क्षर', सहस-दल-कँवल या सहस्त्रार को 'अक्षर' तथा त्रिकुटी को 'निःअक्षर' मानते हैं। योगीश्वर एक क़दम आगे चलकर, सहस्त्रार से आरंभ होकर आगे दशम् द्वार तक जाते हैं, जबकि संतों की परिभाषा में त्रिकुटी को 'क्षर', दसवें द्वार को 'अक्षर' और भंवरगुफा को 'निःअक्षर' कहा जाता है; उसके भी आगे 'क्षर-अक्षर-निःअक्षर-परा' अर्थात् सतलोक है।

इसके अलावा दो क्रियायें और भी हैं :

क. कपालभाति (जल्दी–जल्दी अन्दर–बाहर साँस लेना)

इसे फेफड़ों की सफ़ाई के लिये करते हैं। यह नेति का स्थान भी सुगमता से ले सकता है, परन्तु, इसे वर्षा-ऋतु में तथा ख़राब स्वास्थ्य में भी नहीं किया जाना चाहिए। साँस जल्दी-जल्दी लेना चाहिए, किन्तु इतनी तेज़ी से नहीं कि छाती तथा श्वसन प्रणाली पर प्रभाव पड़े।

ख. शंख प्रक्षालन

इसमें मुँह से पानी पी कर, पेट में थोड़ा हिला कर, तत्काल गुदा से निकालना होता है। इससे सम्पूर्ण पाचन-प्रणाली की अशुद्धताओं की सफ़ाई हो जाती है।

ये सभी क्रियायें यदि किसी यौगिक साधना में निपुण व्यक्ति की देख-रेख में नहीं किए जायें, तो इनसे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। यह भी मानना पड़ेगा कि इनमें कुछ बनावटीपन और अप्राकृतिकता है और ऐसे मामले प्रकाश में आये हैं, जहाँ निपुण व्यक्ति भी इन्हें करने से हानिग्रस्त हुए हैं। इसलिये यह बेहतर है कि सहज, प्राकृतिक साधारण साधनों का ही सहारा लिया जाये, जैसे ताज़ा शाकाहारी और अपने प्राकृतिक अवस्था में भोजन, थोड़ा गाय का दूध और घी, ताज़ा पानी, नियमित परन्तु न थका

धर्मग्रन्थों में 'अक्षर' सृष्टा–जीवनदायी तत्व के लिए प्रयुक्त है, और यह कहा जाता है कि जो इसके सार को जानता और अनुभव करता है, वह प्रभु के मार्ग पर अग्रसर होने का अधिकार पा लेता है। अक्षर–पुरुष अनहद (या कभी समाप्त न होने वाले अनाहत) नाद के द्वारा ही सूक्ष्म और स्थूल मंडलों की, जोकि त्रिकुटी के नीचे हैं, रचना करता है। ये प्रलय को प्राप्त हो सकते हैं और इन्हें 'अक्षर' (जिसे कि कभी क्षय या नष्ट न होने वाला– 'कूटस्थ' और 'अव्यक्त' भी कहते हैं) के विपरीत 'क्षर' (नाशवान) कहा जाता है। क्षर और अक्षर से परे 'पुरुषोत्तम' या 'परम् आत्मा' कहा जाता है। – श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (12:3-4; 15:16-17)

त्रिकुटी के आगे आध्यात्मिक मंडल, सत्–शब्द (स्फोट या शब्द–ब्रह्म) के द्वारा ही स्थित हैं, और उनका स्वामी 'निःअक्षर' है, लेकिन महाप्रलय से वह भी बच नहीं रह सकते। प्रलय की सीमारेखा के परे पड़ने वाला लोक, 'सतलोक' या 'मुक़ामे–हक' है, जोकि सदा एकरस (निःअक्षर–परा) ही रहता है, और यही वास्तव में संतों का निवास–स्थान है, क्योंकि यहाँ उनका वास्तविक देश भी है।

देने वाला व्यायाम, गहरे साँस लेना इत्यादि क्योंकि यह सभी हठ-योग के अभ्यास से होने वाले ख़तरों से मुक्त हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि हठ-योग में पहले तो शरीर रूपी मकान को उपयुक्त बनाया जाता है, जोकि उपरोक्त छः प्रारंभिक क्रियाओं अर्थात् षट्कर्म के द्वारा किया जाता है। इसके पश्चात, इस प्रकार के योग में सफलता पाने और आगे विकास करने के लिये निम्नलिखित अनुशासनों का पालन किया जाता है :

क. *यमों तथा नियमों का सख़्ती से पालन।*

ख. *जीवन के सभी क्षेत्रों में (मन, वचन और कर्म से) संयम तथा अनुशासन बरतना।*

ग. *शारीरिक आसनों, मुद्राओं और बंधों आदि का अभ्यास।*

घ. *प्राणायाम अथवा श्वसन-तंत्र (श्वास-प्रश्वास क्रियाओं) का नियमन, जिनका पहले अष्टांग-योग में वर्णन किया जा चुका हैं।*

आध्यात्मिक मार्ग में हठ-योग का जो स्थान है, उसके बारे में कुछ लेखकों ने जो कुछ कहा है, अब हम उसके बारे में विचार कर सकते हैं। श्री योगेन्द्र जी ने हठ-योग ('Hatha Yoga Simplified') पुस्तक की भूमिका में हठ-योग के बारे में यह विचार व्यक्त किया है :

> **योग की इस प्रणाली की आवश्यकता प्राचीन काल में उस समय महसूस की गई होगी, जब शारीरिक शिक्षा एवं अनुशासन, मानसिक, नैतिक तथा मनौवैज्ञानिक अनुशासन एवं नियंत्रण का एक आवश्यक स्वरूप बन गया। इस सम्बंध में, हठ-योग को योग के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने का एक विधिवत् माध्यम समझना चाहिए। क्योंकि यह प्राथमिक रूप से मानसिक पक्ष की अपेक्षा, भौतिक पक्ष अर्थात् मनुष्य के शरीर से संबंधित है, इसीलिये इसे घटस्य-योग अर्थात् शारीरिक योग कहना अधिक उपयुक्त है।**

अपनी पुस्तक, 'पुनरेकीकरण की विधि' ('The Method of Re-Integration') में लेखक, श्री अलैन दानियलु (Mr. Alain Danielou), हठ-योग के तरीक़े को शक्ति के द्वारा पुनरेकीकरण बताते हैं, क्योंकि आत्मा

की प्राप्ति बलहीन के वश की बात नहीं है। इसके उद्देश्य और साधन के विषय में वह कहते हैं :

उन तकनीकी अभ्यासों और अनुशासनों, जिनसे शरीर और प्राण–ऊर्जाओं को नियंत्रण में लाया जा सके, हठ–योग के नाम से जाना जाता है। यद्यपि यह योग के साधनों में से एक है, यह पुनरेकीकरण के रास्ते पर चलने की पहली तैयारी है, जोकि अग्रिम अनुभव के लिये आवश्यक है।

योग पर उपलब्ध सभी ग्रंथ इस बात पर बल देते हैं कि हठ-योग के शारीरिक अभ्यासों का मूल उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा राज-योग, जोकि आत्मा का परमात्मा से पुनरेकीकरण कराने का रूहानी या राजसिक मार्ग है, के मार्ग में जो शारीरिक कठिनाइयाँ आती हैं, उन्हें दूर किया जा सके।

अक्षरशः, 'हठ' का अर्थ है 'संकल्प-शक्ति' या किसी काम को करने की या किसी लक्ष्य को पाने की अदम्य इच्छा– चाहे वह कितना ही असाधारण क्यों न प्रतीत हो। 'हठ' का अर्थ गोरक्ष संहिता के अनुसार, जैसा कि दानियलु वर्णन करते हैं, इस प्रकार है :

'ह' अक्षर से तात्पर्य सूर्य से और 'ठ' का चंद्रमा से है, और इस प्रकार दोनों का योग ही हठ–योग है।

ब्रह्मांडीय सिद्धांत, जिनकी सौर–मंडल में स्वयं को सूर्य और चन्द्र के रूप में अभिव्यक्त होती है, सृष्टि के प्रत्येक पहलू में पाये जाते हैं। मानव शरीर में ये मुख्यतः दो रूपों स्थूल व सूक्ष्म शरीर में प्रकट होते हैं। सूक्ष्म शरीर में यह इडा व पिंगला, दो नाड़ियों के रूप में, जिनके द्वारा मेरुदंड के आधार स्थित मूलाधार से लेकर मस्तिष्क के शीर्ष स्थित केन्द्र तक हमारे बोध सफ़र करते हैं, प्रकट होते हैं। इडा, चन्द्रमा की शीतलता और पिंगला–सूर्य की गर्मी का प्रतिनिधित्व करती है।

स्थूल शरीर में, चन्द्र एवं सूर्य सिद्धांत क्रमशः श्वसनतंत्र (ठंडी) व पाचनतंत्र (गर्मी) की प्राण शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिन्हें 'प्राण' और 'अपान' कहा जाता है। इन दो सर्वाधिक शक्तिशाली प्राण–स्पंदनों को समायोजित कर के ही योगीजन अपने उद्देश्य की प्राप्ति करते हैं। साँस के सम्बंध में, जो ठंडी हवा अन्दर खींची जाती है, उसे प्राण–वायु कहते

हैं और जो गर्म हवा साँस द्वारा बाहर निकालते हैं, उसे अपान-वायु कहा जाता है।

जैसा कि पिछले अध्याय में आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार का वर्णन करते समय वर्णन किया गया है, निस्सन्देह हठ-योग के अनेक लाभ हैं। इससे शारीरिक प्रणाली से अनेक ज़हरीले और अशुद्ध पदार्थों को बाहर निकाल कर एक स्वस्थ्य जीवन की नींव पड़ती है, जोकि बहुत से शारीरिक दबावों को सहन कर सकता है। एक योगी के लिये मृत्यु, क्षय की एक लंबी प्रक्रिया के पीड़ादायक अंत के रूप में नहीं आती है, बल्कि यह पतझड़ में पत्तियों के झड़ जाने की भांति, या पके हुए फल के गिर जाने की भांति प्राकृतिक रूप से आती है। अनेक शारीरिक क्रिया-कलापों पर नियंत्रण पा लेने से कुछ अंश तक मानसिक नियंत्रण भी आ जाता है, क्योंकि कोई भी कठोर शारीरिक अनुशासन इच्छा-शक्ति की साधना के बिना सम्भव नहीं हैं और इन दोनों में से किसी एक का विकास, दूसरे को विकसित करता है।

फिर भी, साधक जो शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ हठ-योग के अभ्यास से प्राप्त करता है, वे जंजालों और ख़तरों से ख़ाली नहीं हैं। इन शक्तियों का उपयोग केवल निजी आध्यात्मिक उन्नति अथवा अतिमानवीय उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त करने की बजाय, प्रायः लोगों से मान-बड़ाई व धन-दौलत हासिल करने के इरादे से किया जाता है। यह धारणा यों ही नहीं है कि आम व्यक्ति इस योग का सम्बंध उन लोगों से जोड़ते हैं, जोकि जलते कोयलों पर चलते है, शीशे के टुकड़े या धातु के ब्लेड निगल जाते हैं और सांपों और कृन्तकों-चूहों आदि (rodents) को खा जाते हैं, दौड़ती कारों को रोक देते हैं या अपने आप को ट्रक या हाथियों के नीचे कुचलवाते हैं। योग के गंभीर विद्यार्थी को इस दुरुपयोग को ध्यान में रख कर, इन अभ्यासों को केवल राज-योग की ओर सीढ़ी के क़दम की तरह प्रयुक्त करना चाहिए, या फिर उन्हें लक्ष्य से भटकाने वाले दूसरे व्यवधान की भांति समझ कर उन्हें त्याग देना चाहिए, क्योंकि यह अहंकार को, जिसे जीतना चले थे, उल्टे बढ़ावा देने का साधन है। श्री हुस्टन स्मिथ (Mr. Huston Smith), 'मानव के धर्म' ('The Religions of Man') में इस विषय को इस प्रकार से व्यक्त करते हैं :

कुछ लोग तो मुख्यतयः अपने शरीर को ही समन्वयित करने में दिलचस्पी रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतियों की ही भाँति, ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी प्राथमिक दिलचस्पी शरीर पर पूरा नियंत्रण रखने में ही है.....जबकि पश्चिम के देशों ने शक्ति और सुदंरता को सराहा है, भारत की दिलचस्पी शरीर के सभी कार्य–कलापों की सुनिश्चितता और उनका नियंत्रण, आदर्शतया सम्पूर्ण नियंत्रण में।.....जूलियन हक्सले ने सावधानी बरतते हुए यह कहा है कि सम्भवतः भारत ने कुछ ऐसी चीज़ों की खोजबीन कर ली है, जिनसे शरीर इस प्रकार से क्रियान्वित किया जा सकता है, जिसके बारे में पाश्चात्य के देशों को कुछ भी पता नहीं हैं। इन विस्तृत निर्देशों को मिलाकर एक प्रामाणिक योग बनता है, जिसे 'हठ–योग' कहते हैं। प्रारम्भ में इसका अभ्यास अध्यात्म–योग के प्राथमिक चरण के रूप में किया जाता था, परन्तु क्योंकि इसने अब इस सम्बंध खो दिया है, अतः अब हमें भी इससे सम्बंध रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। हिन्दू महात्माओं का इस मामले में निर्णय हमारे लिये उपयोगी हो सकता है। यदि इसमें आप दिलचस्पी रखते हैं और इसके अभ्यास में अपना सारा जीवन लगाने के इच्छुक हैं, तो शरीर के माध्यम से अविश्वसनीय क्रिया–कलाप किए जा सकते हैं। परन्तु, आत्म–ज्योति को प्राप्त करने में इन चीज़ों का योगदान बहुत ही कम है। वास्तव में, इनका विकास प्रदर्शन करने की इच्छा के कारण होता है और इन शक्तियों पर आधिपत्य होने से अंहकार और भी बढ़ जाता है, जो आध्यात्मिक तरक़्क़ी के रास्ते में बाधक सिद्ध होती हैं।

3. लय-योग

यह *तल्लीन होने या मिल कर तदाकार हो जाने का योग है। अक्षरश: 'लय' का अर्थ है- अपने आप को किसी अति शक्तिसम्पन्न विचार में या प्रबल इच्छा में खो देना, विलीन कर देना। ध्यान-संकेन्द्रन द्वारा गहन व निरन्तर तल्लीनता से धीरे-धीरे व्यक्ति एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ पर अन्य सभी कुछ को, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी, भूल*

जाता है और जो उसके मस्तिष्क में केवल वही विचार रह जाता है, जो उसका अभीष्ट लक्ष्य है। यह लगन (obsession) किसी भी चीज़ के लिये हो सकती है– सांसारिक लाभ, शक्ति-सम्पन्नता व धन दौलत, नाम-प्रसिद्धि, यहाँ तक, ऋद्धि-सिद्धि या अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करने के लिये भी या फिर सबसे बढ़ कर, अंतिम सत्य को, जिसे हम परमात्मा कहते हैं, पाने के लिये।

इस तरह से लय-योग के अनेक स्वरूप एवं बहुत सी अवस्थायें हैं, जिसमें से सबसे ऊँची अवस्था परमात्मा के ध्यान में तल्लीन होने की है, जिसके बारे में योगियों की संकल्पना सूक्ष्म-ज्योति (Astral light) की है और उसे पाने के साधन, मुद्राओं (या बंधी हुई शारीरिक अवस्थाओं) के द्वारा है, जिनमें से कई पिछले अध्याय में वर्णित की जा चुकी हैं, क्योंकि लय-योग पंतजलि के ध्यान से संबंधित विचारों से क़रीब से मेल खाता है। लय-योग में सबसे ऊँचे प्रकार का ध्यान देहाभास से ऊपर ले जाता है, जोकि मानव-आत्मा के दैवी क्षेत्र– 'सहस्त्रार', जोकि सूक्ष्म-मंडल का मुख्यालय है, की ओर ले जाता है, जहाँ पर पिरामिड (pyramid) के आकार में ज्योति से परिपूर्ण सहस्त्रदल-कमल अवस्थित है। इस प्रकार के योग में सफलता की कुंजी यही है कि ध्यान के विषय को लगातार सामने रखे तथा अन्य सभी कुछ भूल जाये। यह प्रत्याहार और धारणा का, जो ध्यान की ओर ले जाता है, प्राकृतिक परिणाम है, और यह सब मिलाकर लय-योग का आधार बनता है।

योगीजन मानव तथा प्रकृति– दोनों में, पुरुष व प्रकृति अर्थात् पुरुषतत्व (male) *और स्त्रीतत्व (female) के युगल-सिद्धांत की उपस्थिति में विश्वास करते हैं। मानव में यह प्रकृति-शक्ति शरीर में मूलाधार-चक्र में कुंडलिनी के रूप में स्थित है, जिसको जागृत करने का तरीक़ा आसन व प्राणायाम का अभ्यास है। यहाँ से, जागृत करके, इसे केन्द्रीय नाड़ी, सुषुम्णा के अन्दर ऊपर ले जाते हुए, सबसे ऊँचे केन्द्र, सहस्त्रार में ले जाया जाता है, जहाँ पहुँच कर यह पुरुष में लीन हो जाती है। इसीलिये इसे लय-योग कहा जाता है। लय-योग में सफलता के लिये व्यक्ति को उन तत्वों की ज्योतियों पर निर्भर करना पड़ता है, जिनका पिंड या स्थूल-शरीर में विभिन्न चक्रों पर आधिपत्य रहता है। क्योंकि मन के चिदाकाश में विलीन होने की यह यात्रा*

ख़तरों से ख़ाली नहीं है, अतः इसका अभ्यास किसी अनुभवी मार्गदर्शक की देखरेख में ही करना आवश्यक है।

लय योग, योग के अन्य प्रकारों से, जो मुख्यतया किसी स्थिर लक्ष्य पर ध्यान एकाग्र करने का सकारात्मक लक्ष्य रखते हैं, बहुत अधिक भिन्न है। लय-योग में लक्ष्यप्राप्ति नकारात्मक प्रकार की है। योग की अन्य प्रणालियों की तरह मन को क़ाबू करने के बजाय, यह कुंडलिनी, जोकि प्राण ऊर्जा (Vital energy) है और गुप्त व अव्यक्त है, के नियंत्रण पर ध्यान संकेन्द्रित करता है, और सम्भवतः इसलिये कि यह अव्यक्त शक्ति (latency) से सम्बंध रखती है, इसे लय-योग कहा जाता है।

4. राज-योग

जैसा *कि इसके नाम से ही इंगित व संकेत होता है, इसका अर्थ है- 'पुनरेकीकरण (दुबारा मिलकर एक होने) का राजसी मार्ग'– आत्मा का, जोकि मन के विविधता की ओर ले जाने वाले प्रभाव के वश में होकर अनेक बहिर्गामी मार्गों से बाहर की ओर भाग रही है और इस समय विघटन की स्थिति में है, पुनरेकीकरण। यह मार्ग परमात्मा की ओर चलने के लिये एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पेश करता है और इस प्रकार आंतरिक व बाहरी तौर पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वालों तथा आजमाइश-अभ्यस्त व्यक्तियों के लिये यह सर्वाधिक उपयुक्त होता है। यह इस धारणा पर आधारित है कि मनुष्य के अन्दर विद्यमान उसकी आत्मा (उसका सच्चा आपा) उससे बिल्कुल भिन्न और आश्चर्यजनक है, जैसा कि वह दैनिक जीवन में प्रतीत होता है, जहाँ पर यह सीमाओं से, जोकि प्रत्येक दिशा से इसे घेर कर इस पर दबाव डालती हैं, घिरी हुई है और जो इसे सभी क्रियात्मक उद्देश्यों के लिये एक सीमित तत्व के रूप में ही प्रस्तुत करती हैं और इसकी वास्तविकता, कि यह असीमित है, को ढाँप देती है।*

पुनश्चः, राज-योग में जो प्रयोग होते हैं, उन्हें अपने आप पर ही करना होता है, जब कि अन्य विज्ञानों में सारा प्रयोग बाहरी प्रकृति पर किया जाता है। एक राज-योगी से यह अपेक्षा नहीं की जाती है कि वह किसी भी बात को आँख मूँद कर धर्मग्रन्थात्मक या किसी अन्य सत्ता पर विश्वास कर ले। मूलतः, उसका रास्ता अपने मन की प्रयोगशाला में आत्म-परीक्षण का है,

जिसमें वह एक-एक करके धीरे-धीरे, किन्तु स्थिर क़दमों से आगे बढ़ता है और तब तक नहीं रुकता, जब तक कि वह लक्ष्य को प्राप्त न कर ले।

राज-योग के अनुसार मानव 'कई स्तरों से ढका हुआ' एक अस्तित्व है और उसके ऊपर एक के भीतर एक करके अनेक आवरण चढ़े हुए हैं– जैसे शरीर, शारीरिक आदतें, जीवन के तौर-तरीक़े (पैतृक व अर्जित) इन्द्रियाँ व व्यसन, प्राण-वायु, असंख्य मानसिक तरंगों-स्पदनों को लिये बेचैन मन, सर्वदा कार्यरत इच्छा-शक्ति और अहंकार इत्यादि। ये सभी आत्मा के ऊपर विभिन्न आवरणों का निर्माण करते हैं। इन सबके बीच में अनमोल रत्न– 'आत्मन्' स्थित है, जोकि इस आभासिक व्यक्तित्व के अन्दर सदैव एक सा रहने वाला व्यक्ति का असली आपा है। अतः पूर्ण मुक्ति, सीमित करने वाली अनगिनत प्रणालियों, जो सृजनात्मक जीवन सिद्धांत के असीम सागर को घेरे हुए है, को पूरी तरह से हटाने में ही हैं, ताकि सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण जीवन, सम्पूर्ण विवेक, सम्पूर्ण प्रसन्नता, सम्पूर्ण आनन्द और अन्य सभी कुछ उसके पूर्णत्व में प्राप्त हो सके। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ है- आत्मा के ऊपर व्यक्तित्व के आवरण को उस मुखौटे की तरह उतार फेंकना, जो अभिनेता रंगमंच पर आकर अभिनय करने के लिये धारण करता है। इस तरह एक राज-योगी का कार्य अनगिनत मुखौटों या नक़ली पहचानों को हटाकर, अपने अन्दर विद्यमान असलियत को उजागर करना है और इस प्रकार अपनी महान आत्मा को उन सभी आवरणों से पृथक् करना है, जिनसे यह ढक गया है।

महामुनि पतंजलि का आठ अंगों वाला रास्ता, 'अष्टांग-योग', उस ओर ले जाता है, जिसे प्रायः राज-योग के नाम से जाना जाता है। यह वह सीढ़ी है, जिसके द्वारा साधक 'निर्बीज समाधि', 'उन्मनी अवस्था', 'सहज अवस्था' अथवा 'तुरिया पद' प्राप्त करता है, जोकि सभी योग प्रणालियों का सिरमौर है और यौगिक कला की प्रज्ज्वलित ज्योति है। यह मन और इसकी मानसिक शक्तियों को इस प्रकार प्रशिक्षण करता है कि वे आत्म-ज्ञान की ओर ले जायें, जिसके द्वारा वास्तविकता का अनुभव होता है तथा साधक समभाव की अवस्था को प्राप्त करता है, जो जागृत-समाधि की अवस्था है। उसकी आत्मा अन्तर में अपने केन्द्र ('सम') पर अडिग रूप से स्थिर हो जाती है, यद्यपि वह व्यक्ति बाक़ी मनुष्यों की भाँति ही सांसारिक कार्यों में

लगे हुए प्रतीत होता है। यह अवस्था सभी यौगिक अभ्यासों का सार-तत्व है और उसके एक बार प्राप्त होने पर योगी, संसार में रहते हुए भी, इस संसार का नहीं रहता। राजर्षि जनक व योगेश्वर श्री कृष्ण इसी प्रकार अपने आत्म-केन्द्र को दिव्य-मंडल में स्थित करके निरन्तर गतिशील संसार-चक्र को हाथों में उठा कर संसारिक क्रिया-कलापों में संलग्न रहे। उनके सभी कार्य, अकर्मता में कर्म के लक्षण से युक्त थे। यह योग-प्रणाली की सर्वोच्च अवस्था है, जिसमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सभी स्थिर हो जाते हैं। कठोपनिषद् में हम पाते हैं :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।

– कठोपनिषद् (II:3:10)

(जब सभी इन्द्रियाँ स्थिर हों, मन भी शांत हो और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती हो, वही ज्ञानियों द्वारा सर्वोच्च अवस्था कैवल्य पद अर्थात् परम् अनुभव की अवस्था कही जाती है।)

इसका उद्देश्य 'समाधि' (पतंजलि योग प्रणाली में अंतिम सोपान) है, जिससे व्यक्ति व्यक्तित्वरहित हो जाता है और अपने अन्दर एक सम्पूर्णता– असीमित तथा अव्यक्त, अनन्त एवं मुक्त, आकाश के समान सर्वव्यापी– का अनुभव करता है। इस अवस्था में व्यक्ति सभी वस्तुओं को शाश्वतता के परिप्रेक्ष्य में देखता है।

यहाँ समाधि की अवस्था के विषय में कुछ कहना अनुचित नहीं होगा। समाधि, चैतन्य या परा-चैतन्य हो सकती है। एक में तो मन विषयों के प्रति चैतन्य रहता है, जबकि दूसरे में एक आंतरिक शांति होती है, जिसमें साधक एक चैतन्य प्रकाश में, मा'नो एक कौंध में, विषय के आंतरिक यथार्थ रूप को देखता है। यह आत्मा या आंतरिक आध्यात्मिक नेत्र से देखना होता है, जबकि हमारे शरीर के चर्मचक्षु बंद रहते हैं। यह तत्काल और प्रत्यक्ष ज्ञान है, जोकि मन बुद्धि व इन्द्रियों के धुंधले शीशे के समान आवरणों के माध्यम से प्रकट हो रहे अप्रत्यक्ष ज्ञान से एकदम भिन्न है। यह 'स्थिर शांति' ('still silence') की अवस्था है और बाह्य जगत के पागल कर देने वाले कोलाहल से एकदम परे है। यह एक आध्यात्मिक अवस्था है, जिसमें चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार सभी अपनी-अपनी भूमिकायें खो

देते हैं तथा सब ओर से मुक्त व अव्यक्तिगत हो कर आत्मा स्वयं अपनी ही ज्योति में चमक उठती है। इस अवस्था के बारे में महर्षि वेदव्यास जी हमें बताते हैं :

योगेन योगा ज्ञातव्यों योगात्योगे प्रवर्धते।।

– योगभाष्य (iii:6)

(योग द्वारा ही योग का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, क्योंकि योग योग ही के द्वारा ही व्यक्त होता है।)

राज-योगियों का सबसे पवित्र अक्षर 'ॐ' ('ओ३म्') है। मांडुक्य उपनिषद् में हमें इस अक्षर का विस्तृत वर्णन मिलता है। सेंट जॉन की गॉस्पल (The Gospel of St. John) में इसे 'पवित्र शब्द' ('Holy Word') कहा गया है। मुस्लिम साधकों का यह 'कलमा' या 'बांगे-क़दीम' है, प्राचीन ऋृषियों की यह आकाशवाणी' या 'वाग्देवी' है। उपनिषद् में इसे 'उद्गीथ' या 'नाद' कहा गया है। यही ज़रतुश्तु का 'स्त्रोशा' और संत-सत्गुरुओं का 'नाम' या 'शब्द' है। संसार और वेद, सभी इसी अक्षर 'ॐ' से उत्पन्न हुए। गीता में यह कहा गया है:

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।

– श्रीमद्भगवद्गीता (VIII:13)

('ॐ' ही एक अक्षर ब्रह्म है। जो साधक 'ॐ' का जप व उसका ध्यान करता हुआ इस शरीर को छोड़ते हुए जाता है, वह परम् गति को प्राप्त करता है।)

भगवान श्री कृष्ण अपने बारे में बताते हुए कहते हैं कि 'मैं ओंकार हूँ' (वेद्यं पवित्रामांकार), सभी वेदों में प्रणव हूँ (प्रणवः सर्ववेदेषु), वाणी में एक-अक्षर हूँ (गिरामस्येकमक्षरम्)। इसी प्रकार उपनिषदों में कहा गया है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

– मुंडक उपनिषद् (II:2:4)

('ॐ' धनुष है, मन बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। ब्रह्म को एकाग्रता के द्वारा जानो, एकाग्र होकर लक्ष्य का भेदन करो और बाण की तरह तन्मय होकर लक्ष्य में समा जाओ और इस प्रकार व्यक्तिगत आत्मा ब्रह्म से एकाकार हो जायेगी।)

'एकोऽहं बहुस्याम' (मैं एक हूँ, अनेक रूप हो जाऊँ)– ब्रह्म के इस प्रथम संकल्प रूपी स्पंदन के साथ ही आत्मिक, कारण, सूक्ष्म व स्थूल मंडल अपने अनगिनत भागों-विभागों के साथ अस्तित्व में आ गये। मानव में भौतिक स्पन्दन भी इसी प्रथम स्पदंन का रूप है जिसने सृष्टि की रचना की, जिसमें तीन शक्तियाँ– ब्रह्मा, विष्णु, महादेव; त्रिगुण (यथा सत्व, रजस्, तमस्), तीन अवस्थायें (यथा जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति), सम्मिलित हैं और यह सभी कुछ 'ॐ' में, जिसे त्रिलोकीनाथ कहा जाता है, समाहित हैं।

मृत्युदेव यमराज ने जिज्ञासु नचिकेता को आत्मोपदेश देते हुए कहा :

सर्वे वेदा यत्पद्मामनन्ति तपा̐सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद̐ संग्रहेण
ब्रवीम्योमित्येतत्।।

– कठोपनिषद् (I:2:15)

(जिस लक्ष्य की सभी वेदों ने एकस्वर से प्रशंसा की है और जिसे पाने का मानव अपनी समस्त तपश्चर्या से निरन्तर प्रयत्न करता है, जिसकी इच्छा से मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद, संक्षेप में, 'ॐ' है।)

इसी तरह 'प्रणव' शब्द का अर्थ है- जो सदा ही नवीन, ताज़ा, सदा. बहार, अपरिवर्तनीय, 'कूटस्थ नित्य' या शाश्वत हो- शब्द और उसके अर्थ के बीच सम्बंध की भांति, 'परिणाम नित्य' (सदा ही परिर्वितत होने वाले) के विपरीत।

उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिष्ठापित पद्धति के योग के चारों विभागों में से प्रत्येक, पतंजलि द्वारा दिये गये उस सम्पूर्ण योग-प्रणाली का ही अभिन्न अंग है, जिसमें उस प्रणाली के किसी एक या दूसरे पक्ष पर विशेष बल दिया गया है, और ये चारों प्रकार, मिलकर, मंत्र-सिद्धि से लेकर राज-योग तक के लिये क्रमिक विकास का निर्माण करते हैं, जिसमें यौगिक पथ पर प्रत्येक सीढ़ी, अपने से अगली उच्चतर अवस्था की प्राप्ति के लिये मार्ग प्रशस्त करती है।

योग को और अधिक अभ्यास-योग्य बनाने के लिये, बाद के कालों में, व्यक्तिगत मानसिक स्थिति व व्यावसायिक अनुसरण को ध्यान में रखकर, विभिन्न प्रकार के लोगों के लिये, इसके अनेक विभाग बनाये गये। जो व्यक्ति सब वस्तुओं में बहुत अधिक बौद्धिक तार्किक दृष्टिकोण रखते थे,

वह प्राय: ज्ञान का योग– ज्ञान-योग को धारण करते थे। जो भावुक प्रकृति के होते थे, उनके लिये भक्ति का योग– भक्ति-योग उपलब्ध कराया गया, जिसमें भक्तिपूर्ण क्रिया-कलाप- जैसे भजनों और प्रार्थनाओं का गायन व पाठ, शामिल है (जैसे मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु ने किया)। पुनश्च:, जो सांसारिक व बाह्य क्रिया-कलापों में लगे होते थे, उन्हें कर्म का योग- कर्म-योग के लिये सर्वोचित समझा गया, जिसमें संयम- जैसे व्रत व जागरण, यज्ञ-अनुष्ठान तथा उदार कर्म– जैसे पवित्र स्थानों की तीर्थयात्रा, धर्मग्रन्थों का पाठ आदि, सम्मिलित होते थे तथा इन से भी बढ़ कर, निस्स्वार्थ सेवा का पथ धारण करना शामिल है। इस प्रकार तीन प्रकार के लोकप्रिय योग बने- मस्तिष्क, हृदय और हाथों से संबंधित, क्रमश: ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग। इन योगों की स्पष्ट व्याख्या को सर्वप्रथम श्रीमद्भगवद्गीता में स्थान मिला और भगवान श्री कृष्ण उनसे उसी प्रकार संबंधित हैं, जैसे पतंजलि चार प्रकार के परम्परागत योगों से।

परन्तु, यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि इन तीन प्रकारों को आपस में एकदम पृथक् नहीं किया जा सकता– उनमें से किसी एक का अभ्यास अन्य प्रकारों से बिलकुल पृथक् करके नहीं किया जा सकता। वे केवल जिज्ञासु की प्रकृति में प्रबल व पूर्वनिहित संस्कारों को ही इंगित करते हैं। बिना भक्ति-भाव व कर्मरूप उपासना के मात्र योग का सैद्धांतिक ज्ञान वैसा ही है, जैसा कि छायारहित व फलविहीन वृक्ष, जो केवल लकड़हारे की कुल्हाड़ी के ही योग्य होता है। पुनश्च:, जब तक किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये सक्रिय प्रयत्न न हो, बुद्धि के द्वारा उसको ग्रहण न किया जाये, उसका वास्तविक अनुभव न प्राप्त हो और उसकी प्राप्ति हेतु सक्रिय रूप से प्रयास न हो, तब तक उसकी भक्तिमात्र भी निरर्थक ही है। बिना भक्ति और ज्ञान के, कर्म, अपने आप में– चाहे अच्छे हों या बुरे- सदा-सदा के बंधन में डालते हैं, जैसे कि चाहे ज़ंजीर सोने की हो या इस्पात की– दोनों ही जीव को बांधने की शक्ति व प्रभाव में एक समान हैं। यह संसार कर्म करने का मैदान– कर्मक्षेत्र है, तथा इन्द्रियों के स्तर पर, बिना विवेकपूर्ण ज्ञान और प्रेमाभक्ति के, किए गये सभी कर्म फलवान हैं, जो कर्ता को आवश्यक रूप से संग्रहीत करने होते हैं, चाहे वह उन्हें संग्रहीत करना चाहता हो अथवा नहीं। बिना राग (attachment)

व फल की इच्छा के किए गये कर्म ही स्वतंत्रता ला सकते हैं। इसलिये इस कर्मभूमि में व्यक्ति को 'नि:कर्म' बनना होता है, ताकि कर्म-बंधन के चक्र में पड़ने से बच सके। कर्म का नियम कठोर व अटल है और व्यक्ति को अनावश्यक रूप से कर्म करते हुए अनन्त काल तक कर्मों में बंधन में बँधे नहीं रहना चाहिए।

सो निहकरमी जो सबदु बीचारे॥

– आदि ग्रंथ (माझ, म॰3, पृ॰128)

इस प्रकार योग प्रणाली, सारांश रूप में एक संयुक्त पूर्णत्व है और उसे कृत्रिम भागों-प्रभागों में विभाजित नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में, जोकि पूर्व-प्रसिद्ध रूप से एक योग-सूत्र है, योगीश्वर श्री कृष्ण क्षत्रिय राजकुमार अर्जुन को विविध योग प्रकारों का स्पष्ट उपदेश देते हैं, ताकि वह 'स्वधर्म' अर्थात् कर्म या कर्तव्य के मार्ग की महत्ता को समझ सके, जैसा कि विविध दृष्टिकोण से परिभाषित किया गया है, क्योंकि यदि कोई इसका इस प्रकार अनुभव करे तथा बिना फल की कामना के कर्म करे, तो वास्तविक अर्थों में कर्म कुछ और नहीं, बल्कि पूजा ही है।

5. ज्ञान-योग (सही नज़री या विवेक का योग)

ज्ञान का मार्ग उनके लिये है, जिनके पास सुदृढ़ बुद्धि या मानसिक समझ व तीक्ष्ण अतंर्दृष्टि है, जिससे वे विषयों में 'क्यों' और 'कहाँ से' की दृष्टि से वेधन कर सकें, और वास्तविकता की आंतरिक तह तक पहुँच सकें। इसका अर्थ है– सही विवेक तथा ज्ञान, जोकि भगवान बुद्ध द्वारा प्रणीत सदाचरण के आष्टांगिक मार्ग पर चलने के लिये पहली आवश्यकता है। जीवन के सच्चे मूल्यों के सही ज्ञान से ही अन्य सभी कुछ सही दिशा में अग्रसर होता है, क्योंकि सत्य की सही जानकारी के बिना, सर्वश्रेष्ठ इरादे से भी किए गये सभी प्रयास ग़लत दिशा में जा सकते हैं, और देर-सवेर हमें कठिनाइयों में डाल सकते हैं।

वास्तव में, कर्म-योग हो या भक्ति-योग, सत्य ज्ञान की महत्ता, यौगिक जीवन के सभी पहलुओं में महसूस की जाती है। कर्म-योग में व्यक्ति को यह जानने और अनुभव करने की आवश्यकता होती है कि उसे क्रिया या कर्म करने का अधिकार है, परन्तु उसके फल का नहीं। क्योंकि कोई

व्यक्ति कर्म किए बिना नहीं रह सकता, इसलिये उसे प्रभु पर मन केन्द्रित करके, उन्हीं को समर्पित करके, सच्चे कर्तव्य भाव से ही कर्म करना होता है। फलों के प्रति आसक्ति का त्याग करने से मनोदशा में समता आती है तथा अपने जीवन को प्रभु के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित करने से जो शांति उत्पन्न होती है, उसी में सच्चा ध्यान-योग निहित है।

भक्ति-योग में भी भक्त या उपासक को प्राथमिक क़दम के रूप में प्रभु के प्रति भक्ति या उपासना के सच्चे महत्त्व को समझना होता है, और तत्पश्चात् स्वयं में सही परिप्रेक्ष्य (perspective) विकसित करना होता है, जो उसे इस योग्य बना सके कि वह अपने इष्टदेव की ज्योति मनुष्यों में ही नहीं, अपितु जीवन के प्रत्येक रूप में देख सके।

संक्षेप में, ज्ञान-योग का मार्ग सर्वनिष्ठ सत्य के सही ज्ञान या आत्मा के सत्स्वरूप पर ज़ोर देता है। आत्म-चिंतन (self-contemplation), जोकि एक सच्चे ज्ञानी का मूलस्वर (keynote) है, वास्तव में सही विवेक (discrimination) के प्रयोग द्वारा, देखने में बड़े, परन्तु वास्तव में छोटे आपे (बाह्य पुरुष) से देखने में छोटे, परन्तु वास्तव में बड़े आपे (आंतरिक पुरुष) को पृथक् करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि छोटा आपा बड़े आपे का शत्रु है, किन्तु जब छोटे आपे को सही ढंग से प्रशिक्षित किया जाता है, तो वह बड़े आपे का मित्र बन जाता है। इस योग का उद्देश्य ज्ञान की ज्योति द्वारा अज्ञान के अंधकार को दूर करना है। यह अति विश्लेषणात्मक मार्ग है, जिसके सफल प्रयोग के लिये व्यक्ति को पूरी निष्ठा से तीन बातों का पालन करना होता है :

1. श्रवण (या सुनना) : धर्मग्रन्थों, दार्शनिक उपदेशों तथा सबसे ऊपर, अध्यात्म के जीवित तथा 'सत्' के निजी अनुभव प्राप्त सत्गुरुओं के, जोकि अपने जीवन-तरंगों को अपने पास आने वाले लोगों तक संचारित कर सकते हैं, सत्संग को सुनना, क्योंकि सच्ची जागृत आत्मा की संगति से ही व्यक्ति अपनी दीर्घ अज्ञान-निद्रा से जाग सकता है।

2. मनन (या सोचना) : व्यक्ति जो कुछ सुनता व समझता है, उसके अमूर्त (abstract) को मूर्त (concrete) रूप देने के लिये तथा विवेक का सावधानीपूर्वक प्रयोग करके उन बौद्धिक धारणाओं को क्षण-प्रतिक्षण जीवन का आधार बनाने के लिये, जो गहन और विचारपूर्ण चिंतन करता

है, उसे मनन कहते हैं, जोकि प्रत्येक पग पर सत्य को असत्य से पृथक् करता है। अपने पास उपलब्ध सभी सम्भव तरीक़ों द्वारा आत्मा को अहंकार के फंदे से छुड़ाना ही इसका ध्येय है। यह छाछ का मंथन करके उसमें से मक्खन निकालने के समान है।

3. निदिध्यासन (या अभ्यास) : इसमें अपने अस्तित्व के केन्द्र को अस्थाई व परिवर्तनशील अहम् से हटाकर चिरस्थाई व शाश्वत आत्मन् की ओर तथा परिधि से हटाकर केन्द्र-बिन्दु की ओर स्थानांतरित करना सम्मिलित है। इससे धीरे-धीरे सांसारिक उतार-चढ़ाव– जैसे अमीरी और ग़रीबी, सुस्वास्थ्य और बीमारी, प्रसिद्धि और अपमान, सुख और दुख, इत्यादि से अनासक्ति प्राप्त होती है, जिनमें पड़ने की, सामान्य जीवन में, सभी प्रवत्ति रखते हैं।

ज्ञान का मार्ग योग के लिये संक्षिप्त मार्ग है, परन्तु यह भयावहरूप से दुर्गम चढ़ाई का मार्ग है, जिस पर बहुत ही कम व्यक्ति चल सकते हैं। इसके लिये अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि और तीव्र आध्यात्मिक उत्कंठा के दुर्लभ संयोग की आवश्यकता है, जो केवल भगवान बुद्ध और जगत्गुरु शंकराच. ार्य जैसे बहुत कम व्यक्तियों के पास ही होता है। यदि अत्यंत सौभाग्य से साधक को एक सत्गुरु मिल जाये, तो यह रास्ता सुगम हो जाता है। एक संत-सत्गुरु अपने दीर्घ व बलिष्ठ हाथों द्वारा एक जिज्ञासु को मन-इन्द्रियों के घाट के जीवन के तलहीन सागर में से, उसके बहुत अधिक साधना किए बिना ही, बाहर निकाल सकता है।

6. भक्ति-योग (प्रेमाभक्ति का योग)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।

– श्रीमद्भगवद्गीता (XII:7)

(जो व्यक्ति अविचल भक्ति भाव से प्रभु की सेवा करता है, वह भवसागर को पार कर लेता है तथा वह मुक्ति के योग्य होता है।)

यह अपने इष्टदेव या लक्ष्य में प्रेममय तथा सम्पूर्ण व स्थिर, जीवित-जागृत श्रद्धा के साथ उसकी भावपूर्ण आराधना करने का योग है। यह बहुत ही लोकप्रिय मार्ग है और भावुक स्वभाव के व्यक्तियों के लिये सर्वाधिक अनुकूल

है। इस पथ पर सफलता पाने की मुख्य कुंजी, निस्स्वार्थ भक्ति है। एक भक्त या उपासक, हर्षोन्मत लय में आह्लादित रहता है, तथा सदैव अपने इष्टदेव के स्तुति-गान में लगा रहता है और उनसे कभी ऊबता नहीं। वह जीवन के प्रति दृष्टिकोण तथा प्रभु के प्रति भावना– दोनों में ज्ञानी से भिन्न होता है, क्योंकि वह सच्ची आत्मा को, जोकि ब्रह्म ही है, ढूंढने के बजाय अपने और अपने और प्रभु के बीच में, जिसे कि वह अपने से भिन्न और श्रेष्ठतम मानकर पूजा करता है, द्वैत स्थापित करता है। परन्तु, यह द्वैत अनिवार्य रूप से निर्णायिक नहीं है, क्योंकि भक्त यह रहस्य जानता है कि व्यक्ति जिस की पूजा करता है, अंततः वह उसी का रूप बन जाता है।

भक्ति-उपासना सभी यौगिक साधनाओं में महत्त्वपूर्ण अभिन्न स्थान रखती है। ज्ञानी में यह आत्म-ज्ञान की प्रेरणा के प्रति, भक्ति के रूप में महत्त्वपूर्ण सहायता करती है। कर्म-योगी में, यह एक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है, तथा समस्त जीवों के, जो परमात्मा द्वारा ही रचित हैं, सामूहिक कल्याण हेतु प्रेम एवं भक्ति से पूरित कार्यों में प्रस्फुटित होती है।

भक्ति का मार्ग तीन प्रमुख अंगों द्वारा वर्णित किया जाता है : जप, प्रेम और इष्टदेव का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व।

1. जप : इसमें प्रभु के नाम का लगातार जाप और उसका स्मरण शामिल है। प्रारम्भ में जिह्वा द्वारा उच्चारण, तत्पश्चात् मानसिक रूप से। सभी धर्मों के श्रद्धालुगण इस अभ्यास को करते हैं। माला जपने का अभ्यास संसार भर में प्रचलित है। हिन्दु इसे 'माला', ईसाई 'रोज़री' और मुस्लिम 'तस्बीह' कहते हैं। जब यह भक्तिभाव और एकाग्र ध्यान से न किया जाये, तो इसका उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि इस स्थिति में इसके मात्र यांत्रिक रूप में रह जाने का जोखिम बना रहता है। इस प्रकार, कुछ देशों में यह सारा ही अभ्यास मात्र एक चक्र को, जिस पर कि विभिन्न प्रार्थनायें लिखी हुई होती हैं, घुमाने के रूप में तब्दील हो गया है, जिसमें केवल हाथों का ही प्रयोग होता है, और जब कि हाथ उस चक्र को घुमाने में व्यस्त होते हैं, तो मन, परमात्मा में स्थिर होने के बजाय सांसारिक विचारों में बाहर घूमने के लिये स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है।

2. प्रेम-भाव : *प्रेम का भाव एक भक्त के साथ विविधरूप धारण कर लेता है। इस में भक्त, कभी तो बच्चे की भूमिका धारण कर लेता है और प्रभु के साथ चिपका रहता है, जैसे कि एक बालक माता या पिता के साथ, और दूसरे समय में वह इस प्रक्रिया को पूरी तरह से पलट कर प्रभु को एक बच्चे के रूप में मानकर उसके साथ क्रीड़ा में लग जाता है। कभी वह सखा-भाव अपना लेता है, तो कभी प्रेमी बनकर प्रियतम से मिलने के लिये तड़पता है या कभी सेवक के रूप में अपने स्वामी को समर्पित हो जाता है या फिर कभी स्वयं एक प्यासा बनकर प्रभु को साक़ी मान लेता है, जैसा कि हम उमर ख़य्याम की रूबाइयों में पाते हैं। यह सब भक्त की बदलती मानसिक दशा और उसके संस्कारों पर निर्भर करता है। ईसा मसीह ने हमेशा परमात्मा को 'पिता' कह कर पुकारा। परम्हंस रामकृष्ण ने उन्हें 'माँ' के रूप में सराहा। महारथी राजकुमार अर्जुन तथा राजपूत राजकुमारी मीराबाई ने उन्हें सखा या मित्र भाव से माना और ब्रज की गोपियों ने वियोग में दुख एवं विरह के गीत गाये, जोकि एक प्रेयसी द्वारा अपने 'प्रेमी' के वियोग में गाये जाते हैं।*

3. इष्टदेव : *इष्ट का चुना हुआ प्रतीक। अवतार एवं प्रभु की अभिव्यक्ति के बारे में प्रत्येक की अपनी अलग-अलग ही विचारधारा है। जैसे कि अनामी प्रभु अनेक नाम धारण करता है, वैसे ही निराकार प्रभु भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक रूपों में प्रकट होता है। कोई तो उसे सदना क़साई की तरह से पत्थर में पा लेता है, दूसरा कोई किसी मूर्ति के रूप में– क्योंकि वह सभी रूपों में विद्यमान है, अपने सच्चे भक्तों की प्रार्थनाओं को सुनता है और उन्हें कभी निराश नहीं होने देता। जब प्रभु किसी इन्सानी चोले में* (Godman), *मानवता के शिक्षक– जैसे बुद्ध, ईसा, कबीर, गुरु नानक- के रूप में प्रकट होता है, और अपनी उपस्थिति मात्र से संसार को प्रकाशित कर देता है, तब व्यक्ति उनकी सेवा कर सकता है।*

भक्ति की साधना भक्त के दृष्टिकोण को धीरे-धीरे तब तक विस्तृत करती जाती है, जब तक वह अपने इष्ट की ज्योति अपने चारों ओर सर्वत्र देखने नहीं लगता है और वह स्वयं को प्रेम से विस्तृत होते जाने का अनुभव करने लगता है, तब तक जब तक वह परमात्मा की सम्पूर्ण सृष्टि को ही अपने आलिंगन में समाहित न कर ले। यह प्रेम की वह चरमोत्कर्ष सीमा

है, जहाँ तक प्रेम उसे लेकर आता है। हमारे अपने समय में यह प्रक्रिया रामकृष्ण परम्हंस के जीवन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। सर्वप्रथम, वे दक्षिणेश्वर के मन्दिर में जगत्माता की मूर्ति रूप में उपासना करते थे; तत्पश्चात् उस सत्ता के रूप में, जोकि सभी उत्तम व पवित्र वस्तुओं में प्रकट होती है, और अंत में उस आत्मशक्ति के रूप में, जो सर्वव्यापी है, जो बुरे में भी उतनी ही व्याप्त है, जितनी भले में– यहाँ तक कि वेश्या को भी उन्होंने उसी का रूप माना। एक सच्चे भक्त की द्वैत से अद्वैत की ओर तथा एक सीमित व्यक्तित्व से असीम ब्रह्मांडीय व्यक्तित्व तक के विकास के विभिन्न चरणों को पारम्परिक पद्धति में निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है :

क. सालोक्य : *वह अवस्था, जिस में भक्त अपने इष्ट के ही क्षेत्र में निवास करना चाहता है।*

ख. सामीप्य : *वह अवस्था, जिस में वह न केवल उसी लोक में रहना चाहता है, जहाँ उस का इष्ट है, बल्कि वह उसकी नज़दीकी भी चाहता है।*

ग. सारूप्य : *वह अवस्था, जिस में भक्त अपने लिये अपने इष्ट का ही स्वरूप चाहता है।*

घ. सायुज्य : *अंतिम अवस्था, जहाँ भक्त अपने इष्ट में मिलकर तदाकार होने से कम की अवस्था से संतुष्ट नहीं होता।*

जब भक्त अपनी यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँच जाता है, तो अब वह कोई द्वैत नहीं देखता, परन्तु अपने इष्ट को ही सभी पदार्थों में और सर्वत्र व्याप्त देखता है। वह पहले की ही भांति उसे पिता, माता आदि कह कर संबोधित करना जारी रख सकता है, परन्तु वह अब अपने इष्ट और अपने आप में कोई भेद नहीं जानता और इसी प्रकार हम ईसा मसीह को यह कहते हुए सुनते हैं :

मैं और मेरा पिता, एक हैं।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 10:30)

7. कर्म-योग अथवा कर्म करने का योग

कर्म *अस्तित्व का सार है– चाहे मनुष्य के अस्तित्व का हो या कर्मों के स्वामी, परमात्मा का। प्रभु की सेवा में समर्पण की भावना से, उचित प्रकार से किए गये कर्म, आत्मिक मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं।*

कर्म दो प्रकार के होते हैं– अच्छे एवं बुरे। अच्छे कर्म वह हैं, जो हमें अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, जबकि बुरे कर्म वह हैं, जो हमें उससे दूर ले जाते हैं। अपने वास्तविक आपे की खोज करने से जो आनन्द मिलता है, उससे उच्चत्तर एवं चिरस्थाई आनन्द कोई और नहीं, जिसके द्वारा व्यक्ति वास्तव में आसपास की दुनिया के साथ अपनी पहचान को खोजता है।

जीवन अपने सभी रूपों में क्रियात्मक है, और परिवर्तन सृष्टि का नियम है। कोई भी व्यक्ति एक क्षण भर के लिये भी बिना कुछ किए नहीं रह सकता। महाकवि वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) ने इस निरन्तर कर्मरत रहने की अवस्था को इस प्रकार वर्णित किया है :

आँख देखे बिना नहीं रह सकती,
कान को सुनने से रोक नहीं सकते
हमारे शरीर, जहाँ भी हों,
अनुभूति से अछूते नहीं रह सकते,
चाहे हम ऐसा चाहते हों अथवा नहीं।

– विलियम वर्ड्स्वर्थ [William Wordsworth- 'Lyrical Ballads']

जब यह हालत है, तो व्यक्ति यही कर सकता है कि अपने कर्मों के रास्ते को एक छोर से दूसरे छोर तक परिशुद्ध कर दे, ताकि वह इन्द्रियज. नित सम्बंधों व तुच्छ आकांक्षाओं आदि से ऊपर उठ जाये। मानव समाज की निस्स्वार्थ-सेवा सबसे ऊँचा सद्गुण है। इसलिये एक व्यक्ति के जीवन का प्रेरक सिद्धांत, 'आत्मोपरि सेवा' होना चाहिए। क्योंकि सभी जीवन परमात्मा में से उत्पन्न होता है, जो जीवन व ज्योति का स्रोत है, इसलिये जीवन को भी, बिना किसी फल की कामना के, उस प्रभु के प्रति पूर्णत: समर्पित कर देना चाहिए। 'ब्रह्म-स्थिति' (परमात्मा में स्थित होने की अवस्था) कर्म के त्यागने ('सन्यास') से नहीं आती है, अपितु उसके फलों

की इच्छा को त्यागने ('त्याग') से प्राप्त होती है। यह कर्म नहीं, अपितु उसके करने के पीछे जो प्रेरणाशक्ति होती है, जो हमें बांधती है और अहंकार को तृप्त करती है।

कर्म को यदि मोक्ष या मन और प्रकृति से छुटकारा दिलाने का साधन बनाना हो, तो तीन अवस्थायें पूरी होनी चाहिएँ :

***1.** जीवन के उच्चतर मूल्यों की सच्ची जानकारी। जीवन स्वयं ही एक लगातार रहने वाला सर्वव्यापी सिद्धांत है, जोकि सृष्टि के सभी रूपों में व्याप्त है, इसलिये आदर व पूजा के योग्य है। यह कर्म का क्रियात्मक पक्ष है।*

***2.** तथाकथित निम्नतम स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक के सभी जीवित प्राणियों के लिये प्रेम व सद्भावना- यह कर्म का भावनात्मक पक्ष है।*

***3.** कर्म, बिना दंड के भय के या पुरस्कार की आशा के, एक सक्रिय इच्छाशक्ति के साथ करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह स्वेच्छा से 'स्व:धर्म' के रूप में होना चाहिए अर्थात् केवल कर्त्तव्य भाव से, न कि किसी प्रतिबन्ध या बाध्यता से। मनुष्य मात्र किसी हालात से बंधा प्राणी नहीं है, परन्तु उसके पास एक इच्छाशक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने पर्यावरण को बदल भी सकता है तथा भाग्य की दिशा निर्धारित कर सकता है। यह कर्म का इच्छात्मक पक्ष है।*

एक व्यक्ति, जो पूरी तरह से दूसरों के लिये जीता है, वह अपने लिये नहीं जीता है, और न ही वह अपने अहंकार को संग्रह करने के विचारों द्वारा विस्तृत होने देता है। कर्मयोगी की आत्मा, पूरी वैरागी होने के कारण, वह अपने साधारण सांसारिक आत्मरूप से पूरी तरह से सम्बंध-विच्छेद किए रहता है और इसी तरह जीता है :

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

– श्रीमद्भगवद्गीता (VI:1)

(जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह सन्यासी तथा योगी है, और केवल अग्नि का त्याग करने वाला सन्यासी तथा क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है।)

संक्षेप में, 'निस्स्वार्थ सेवा भाव से कर्म करना' ही कर्म के मार्ग पर सफलता पाने की कुंजी है। कर्म करते समय, व्यक्ति को इन्द्रियों के विषयों, इन्द्रियों, मन तथा बौद्धिक इच्छा से ऊपर उठना चाहिए, ताकि अपने अस्ि. तत्व की पूर्णता से साथ जो कुछ भी कर्म किया जाय, वह आत्मा की ज्योति में स्वैच्छिक तथा सदाचारी कर्म हो, जिससे कि व्यक्ति इस योग्य बन जाये कि वह कर्म करते हुए भी, अकर्म की अवस्था को अनुभव कर सके, तथा अकर्म में स्थित रहने पर भी कर्म करता रहे, और इस प्रकार जीवन के निरन्तर चलने वाले चक्र में एक स्थिर केन्द्र बन जाये, जोकि एक साथ, कर्म एवं अकर्म– दोनों में है। इस प्रकार, दोनों ही, 'सही प्रकार से किए गये कर्म' और 'सही प्रकार से त्यागे हुए कर्म' एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, क्योंकि यह कर्म की प्रकृति के बारे में सही समझ ही है, जोकि यौगिक अवस्था प्राप्त कराती है।

इस प्रकार ये योग के तीन मुख्य प्रकार हैं, जो मनुष्य की प्रकृति के अनुरूप ही बनाये-गढ़े गये हैं। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है। तार्किक मन से युक्त छायावादी दार्शनिक मनुष्य को यह इस प्रकार प्रेरित करता है : "अन्य सब कुछ छोड़ कर मुझे जानो।" आध्यात्मिक जिज्ञासु, जिसे भावुक मन मिला हो, उसे इसकी प्रेरणा, "अन्य सब कुछ छोड़कर अपने आप को मेरे प्रेम में खो दो" के रूप में मिलती है, जबकि व्यावहारिक एवं सक्रिय मन वाला व्यक्ति इस पुकार को इस प्रकार सुनता है : "अन्य सब कुछ छोड़ कर मेरी सेवा करो।"

जैसा पहले कहा जा चुका है, यह तीनों प्रकार के मार्ग एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न नहीं किए जा सकते, क्योंकि ये एक-दूसरे में परस्पर व्याप्त होने की प्रवृत्ति रखते हैं। सच्चे ज्ञानी में भक्त और कर्मयोगी का कुछ भाग विद्यमान होता है, सच्चे भक्त में ज्ञानी एवं कर्म योगी का कुछ भाग विद्यमान होता है, और इसी तरह से, सच्चे कर्मयोगी में भी ज्ञानी और भक्त का कुछ भाग विद्यमान होता है। यह मामला एक ही अवस्था रहने का नहीं, अपितु प्रवृत्ति के आधिपत्य का है।

8. श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित अन्य योग

इन विश्व-विदित और प्रचलित योग के प्रकारों के अतिरिक्त, भगवान श्री कृष्ण ने हमें कुछ और प्रकार के योग भी दिये हैं, जिनमें अलग-अलग विशेषताओं के अल्पांतर हैं।

ध्यान-योग

निर्वात स्थल में रखे दीपक की लौ के समान, यह एकाग्र ध्यान का योग है। यह आत्म-संयमी व्यक्तियों के लिये है, जो कठिन संघर्ष कर सकते हैं। बौद्धिक इच्छाशक्ति सम्पन्न साधक, मन को निरन्तर आत्मा पर केन्द्रित करके, अपने आप को मन के भटकावों से धीरे-धीरे निष्कासित करता है और अपने आप को एक जीवित स्वयंज्योतिरूप आत्मा के रूप में पाता है, और उसके पश्चात् सदा ही सम्पूर्णत्व की ओर बढ़ता रहता है। इस के लिये, साधक को अपने आप को सभी आशाओं, कामनाओं, और सांसारिक संपदा से पृथक् करना होता है और उसके पश्चात् एकांत स्थान में जाकर मन व शरीर पर नियंत्रण का अभ्यास करना होता है।

आध्यात्मिक अनुभव का योग

इसका अनुभव सत्व, रजस् और तमस् रूपी त्रिगुणात्मक अंड का भेदन कर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के पारगमन करने के पश्चात् होता है। यह वस्तुओं की सत्य प्रकृति की जानकारी अर्थात् विवेक से प्राप्त होता है। इसका पुण्य रीति-रिवाज़, बलि-अनुष्ठान, धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन व स्तोत्र-पाठ, तप-दान और अन्य परोपकारी कर्म आदि, जोकि सभी इन्द्रियों के स्तर पर ही किए जाते हैं व उन्हीं से संबंधित हैं और उनसे आगे नहीं ले जा सकते, से अधिक है।

अध्यात्म का योग

यह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण के द्वारा, परमात्मा की शरणागति में जाने का योग है। यह परमात्मा के सच्ची प्रकृति की जानकारी से तथा सीधे अनुभव की दृष्टि से प्राप्त होता है। इस प्रकार, अपने समस्त कर्मों को परमात्मा के श्रीचरणों में अर्पित करके साधक उन कर्मों के होने वाले अच्छे-बुरे परिणामों से स्वयं को मुक्त कर लेता है।

वास्तव में श्रीमद्भगवद्गीता अपने समय में प्रचलित सभी प्रकार के विविध योगों का सार ग्रंथ है और इसमें 18 प्रकार के योगों का वर्णन मिलता है : ***1.*** *विषाद-योग (अ.1),* ***2.*** *सांख्य-योग (अ.2),* ***3.*** *कर्म-योग (अ.3),* ***4.*** *ज्ञानकर्म संन्यास-योग (अ.4),* ***5.*** *कर्म संन्यास योग (अ.5),* ***6.*** *आत्मसंयम योग अथवा ध्यान योग (अ.6.7), ज्ञान-विज्ञान योग (अ.7),* ***8.*** *अक्षरब्रह्म योग (अ.8),* ***9.*** *राजविद्या-राजगुह्य योग (अ.9),* ***10.*** *विभूति योग (अ.10),* ***11.*** *विश्वरूप-दर्शन योग (अ.11),* ***12.*** *भक्ति योग (अ.12),* ***13.*** *क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग (अ.13),* ***14.*** *गुणत्रयीविभाग योग (अ.14),* ***15.*** *पुरुषोत्तमयोग (अ.15),* ***16.*** *देवासुर संपद-विभाग योग (अ.16),* ***17.*** *श्रद्धात्रयी विभाग योग (अ.17),* ***18.*** *मोक्ष-संन्यास योग (अ.18)।*

उपरोक्त विवेचन से वह स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के योगों में किए गये भेद, वास्तव में उनके बीच कोई मौलिक अन्तर होने की अपेक्षा, मनुष्य के मस्तिष्क के एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने के स्वभाव के कारण ही है। ये सभी मात्र एक ही विषय के विभिन्न पहलू हैं, और वे प्रायः एक दूसरे में व्याप्त व सन्निहित हैं। यदि कोई गीता का बहुत गहराई से अध्ययन करे, तो प्रतीत होगा कि जब की भगवान श्री कृष्ण, प्रभु के प्रति विभिन्न मानवीय प्रवृत्तियों के लिये अनुकूल, विभिन्न योगों के बारे में बताते हैं, तो उन सभी के साथ जुड़े हुए व्यावहारिक गुह्य अनुशासन एक जैसे ही हैं। जब उन्होंने अर्जुन को अध्यात्म-विद्या में दीक्षित किया, तो उन्होंने उसके 'दिव्य-चक्षु' अथवा 'तीसरे नेत्र' को खोला और उसके पश्चात ही अर्जुन उनके विश्व रूप का (अ.11) दर्शन कर सका। अन्त में गुरु होने के नाते, महान राज-योगी भगवान श्री कृष्ण ने उसे अन्य सब कुछ छोड़ कर अपने आप को पूरी तरह से उनकी शरण में कर देने के लिये कहा :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

– श्रीमद्भगवद्गीता (XVIII:66)

(सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।)

गीता में आगे के आंतरिक मार्ग के संकेतों की कमी नहीं है। इस प्रकार प्रथम अध्याय ही में हमें बताया गया है कि भगवान श्री कृष्ण ने सर्वप्रथम पंचजन्य (पाँच ध्वनि निकालने वाले) शंख को बजाया। परन्तु अध्यात्म-विद्या के अनुभवी सत्गुरु के अभाव में हम इस घटना को बौद्धिक स्तर पर ही समझते हैं या फिर इसे मंत्रों का पाठ मात्र समझ लेते हैं और उसकी आंतरिक गहराई को ग्रहण नहीं कर पाते।

यह ध्यान देने की बात है कि द्वैतात्मक विचारधारा भक्ति-योग में ही नहीं, बल्कि अन्य सभी प्रकार के योगों में भी प्रथम अवस्था की ही द्योतक है। ये सभी जीवों को अपूर्ण, परिमित व सीमित, तथा ब्रह्म को सम्पूर्ण, अनन्त व असीम मानकर उसे जीव से पृथक् करके देखने से प्रारम्भ होते है। यह सृष्टि स्वयं सकारात्मक और नकारात्मक– दो तत्वों से मिलकर बनी है। विशुद्ध आत्मिक मंड़ल में वह 'सत्' और 'सतो' है, ब्रह्मांड के उच्चतर मंडलों में वह 'पुरुष' और 'प्रकृति' है, ब्रह्मांड के मध्य में वह 'ब्रह्म' और 'शक्ति' है, उसके नीचे वह 'काल' और 'माया' है, और ब्रह्मांड की सबसे निचली तह में वह 'ज्योति' और 'निरंजन' है। इन विभिन्न चरणों में, सूक्ष्मतम परमाणु से लेकर विशालतम ब्रह्मांड तक, सभी स्वरूपों की अभिव्यक्ति इन्हीं दो तत्वों (सिद्धांतों) के संयोग से होती है। स्वयं 'ब्रह्मन्' शब्द दो धातुओं से– 'ब्रह्', जिसका तात्पर्य बढ़ने या फैलने से है तथा 'मनन्', जिसका तात्पर्य पहचान करने से है, मिल कर बना है। सृष्टि की रचना की प्रक्रिया वह है, जिसमें एकत्व अपने आप को द्वैत और बहुप्रकार के रूपों में प्रकट करता है, और उसी प्रकार वापस जाने का रास्ता भी उसके उल्टे क्रम से, अनेकत्व एवं द्वैत से एकत्व का है। परन्तु, जब तक जीव शरीर में स्थित रहता है, योगियों के अनुसार, वह सदा-सर्वदा ही समाधि अथवा आदि-पुरुष अथवा प्रथम अस्तित्व के साथ एकत्व की अवस्था में नहीं रह सकता।

योग-प्रणाली, इस प्रकार, 'विदेह-मुक्ति' अथवा केवल शरीर त्याग करने के पश्चात् ही अंतिम मुक्ति में विश्वास करती है। पुनश्च: योगियों का सर्वोच्च स्वर्ग 'सहस्रार' है, जो ज्योतिर्मय सहस्र-दल-कमल है, और योगीश्वरों का स्थान 'त्रिकुटी' है, जो ब्रह्मांड का मुख्यालय है अथवा ब्रह्म के अंड अर्थात् उत्पत्ति का स्थान है। संसार के अधिकांश पैग़म्बर इसी

मंडल से नीचे उतरते हैं, जोकि शारीरिक मंडल तथा विशुद्ध आत्म मंडल के मध्य में स्थित है, तथा वे इसके पार सृष्टि के पार को 'पार-ब्रह्म' इंगित करते हैं। संतों और पूर्ण-सत्गुरुओं का मार्ग, इनसे भी ऊपर जाता है, क्योंकि वे निश्चित रूप से सतलोक, जोकि सत्पुरुष का निवासस्थान है और विशुद्ध आत्मा का मंडल है तथा 'सतलोक' से भी आगे- 'अलख', 'अगम' और 'अनामी' तक की बात करते हैं।

9. ज़रतुश्ती धर्मग्रंथों में वर्णित योग

यह *जानना बहुत ही रोचक होगा कि जरतुश्तु की गाथाओं में हमें एक पंचमुखी साधना प्रणाली, जिसके द्वारा अहुरा-मज़दा से आनन्दप्रद मिलन होता है, मिलती है, जोकि यौगिक प्रणाली- यथा, ज्ञान, भक्ति कर्म व राज-योग इत्यादि, जिसका हम अध्ययन करते रहे हैं, से मेल खाती है। एक प्रसिद्ध पारसी विद्वान, श्री मिनोचहर होर्मुसजी तूत (Mr. Minochehr Hormusji Toot), की पुस्तक, 'पारसी मत का क्रियात्मक अध्यात्म' ('Practical Metaphysics of Zoroastrians') में से यहाँ उद्धृत किया जाता है :*

1. गाथा अहुरा वैति- ईश्वरीय ज्ञान का मार्ग :

> **अंतर्भेदी प्रबुद्ध मन से अपने अन्तर में देखो और सत्य को अपने आप के लिये स्वयं खोजो, और इस प्रकार स्थूल शारीरिक स्वार्थी अहंकार, 'अकीन' पर विजय प्राप्त करके, उच्चतर और श्रेष्ठतर स्वयं 'वाह्यो' को विकसित करो, और अंत में, श्रेष्ठतम, परिपूर्ण अस्तित्व, 'वहिश्त अहुरा' तथा सर्वोच्च आत्मा, अहुरा मज़दा अथवा सृष्टि के अंतिम सत्य 'आशा वहिश्त' को क्रमशः अनुभव करो।**

'श्रेष्ठतर और स्थूल' अर्थात् प्राथमिक आध्यात्मिक सूक्ष्मत्व और स्थूलतम जड़ का ध्रुवत्व– मज़दा द्वारा उत्पन्न की दो आत्म-शक्तियों : प्राकटय-शक्ति ('स्पैन्तो') और प्रसार-शक्ति ('अंगू') से मिल कर निर्मित होता है। इन दो आत्मिक शक्तियों के अनुकूल संयोग से ही निर्मित जीवन और प्रकृति– दोनों ही अपने तत्संबंधित क्रिया-कलापों से सम्पूर्णत्व की ओर विकसित होते हैं। उपरोक्त 'गाथा अहुरा वैति' (ज्ञान-योग का प्रकरण देखें) में दिया गया अध्यात्म ज्ञान का क्रियात्मक मार्ग है।

2. गाथा उश्ता वैति- प्रेम व भक्ति का मार्ग :

'अरमैति' (दिव्य-प्रेम व भक्ति) का मार्ग सत्यपूर्ण प्रिय स्वामी रातु ज़रतुश्तु के प्रति अचल लगाव से प्राप्त होता है। प्रिय सत्गुरु को सर्वव्यापी, अनन्त सत्य से जुड़ा हुआ जानकर, उसे परिपूर्ण, आदि और अंत समझकर भक्त सांसारिक रागों से अनासक्त और विमुक्त रहता है और दिव्य-प्रेम को प्राप्त कर लेता है, जो सर्वव्यापी सत्य में सुमधुर मिलन की आशा लेकर सृष्टिकर्ता अहुरा-मज़दा में तल्लीन होने की कामना रखना है।

इस गाथा में रातु ज़रतुश्तु इस प्रकार कथन करते हैं :

इस तरह मैं उस 'शब्द' का रहस्योद्घाटन करता हूँ, जोकि सर्वाधिक अव्यक्त प्रभु ने मुझे सिखाया। वह शब्द नश्वर जीवों के लिये सुनना सर्वोत्तम है। जो कोई भी व्यक्ति आज्ञाकारी होगा और अपना अविचल ध्यान मुझ पर ही केन्द्रित रखेगा, वह अपनी आत्मा के लिये सर्वव्यापी परिपूर्ण प्रभु और अमरत्व की प्राप्ति करेगा तथा पवित्र दिव्य-आत्मा की सेवा द्वारा मज़दा अहुरा का अनुभव प्राप्त करेगा।

– हा॰ (45:8) (भक्ति योग को देखें)

3. 'गाथा स्पेन्ता मैन्यु'- निस्स्वार्थ सेवा का मार्ग :

निस्स्वार्थ सेवा, समस्त विश्व और सभी जीवित प्राणियों की भलाई के लिये तथा उनके विकास के लिये की जाती है। एकत्व विज्ञान जन्म से ही मानवों के लिये सर्वश्रेष्ठ है। सम्पूर्ण सृष्टि के लिये निस्स्वार्थ सेवा की जाये और हमारी परिशुद्धि के लिये यह सृष्टि अवश्य फले फूले।

– हा॰ (8:5)

सृष्टा, स्रोत तथा सभी के अंतिम लक्ष्य- अहुरा-मज़दा की उपासना द्वारा, सर्वव्यापी सत्य है और जीवन के एकत्व की असीम दृष्टि प्राप्त करने के लिये हमें अपने सीमित अहम्, अहंकार या व्यक्तित्व का समस्त विश्व की भलाई एवं परोपकारी सेवा की वेदी पर बलिदान कर देना चाहिए।

यह गाथा आत्मा को उभारने वाले जीवन-गीत के साथ समाप्त होती है :

सदाचारी सेवा ही सब से अधिक शुद्ध, शुभ और कल्याणकारी बनाने वाली है, जिससे व्यक्तिगत मानव अस्तित्व

का सृष्टा, ज्योतिर्मय ब्रह्मांडी मन में मिल कर दिव्य हो जाता है।

– (कर्म–योग के संदर्भ में देखिये)

4. 'गाथा वाहु-क्षेत्र'- आत्म-संयम का मार्ग :

निम्न मानसिक प्रवृत्तियों तथा शारीरिक विसंगतियों को नियंत्रित करके तथा इच्छा-शक्ति को संयमित करके, सर्वव्यापी और सर्वप्रिय अहुरा मज़दा के दिव्य साम्राज्य की आशा करते हुए, आत्म-नियंत्रण, शांत व स्थिर मन द्वारा ही प्राप्त होता है।

यह पवित्र आत्म–नियंत्रण सर्वोधिक स्थिर परिपूर्ण आधिपत्य है। आत्म–निरीक्षात्मक उपासनापूर्ण सेवा के द्वारा अन्तर में सर्वव्यापी सत्य की प्राप्ति होती है। हे मज़दा! हमें उस सर्वश्रेष्ठ को प्राप्त कराओ।

- हा० (51:1) (राज–योग के संदर्भ में देखिये)

5. 'गाथा वहिस्तो इश्तिश'-आत्म-परिशुद्धि का मार्ग :

इसमें मन और मस्तिष्क के उच्चतर और श्रेष्ठ गुणों के विकास द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक परिशुद्धि की जाती है, जिससे कि सर्वोच्च आत्मा, अहुरा-मज़दा के परिप्रेक्ष्य में अपने असली आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तथा इस प्रयास में व्यक्ति अपने सीमित व सापेक्ष आत्मन् को अहुरा-मज़दा में समर्पित कर देता है।

पृथ्वी पर जीवन एक महान बलिदान, यज्ञ है, जोकि अपने सहप्राणियों की भलाई के लिये स्वेच्छा से किया जाता है। सभी मानुषिक प्रयत्न अंततोगत्वा आत्म-विशुद्धि में ही समाप्त होते हैं और वास्तव में यही वह उद्देश्य है, जिस की ओर उपर्युक्त सभी मार्ग जाते हैं। दो आत्मिक शक्तियों– श्रेष्ठ और निम्नतर, के सच्चे ज्ञान, महान उद्देश्य के लिये जिज्ञासु के प्रेमपूर्ण भक्ति और निस्स्वार्थ सेवा के बिना, व्यक्ति अपने अहम् को नियंत्रित नहीं कर सकता और इससे देहाभास से ऊपर नहीं उठ सकता और आगे पड़ने वाले अध्यात्म पथ पर नहीं बढ़ सकता।

ज़रतुश्ती दर्शन में 'उच्चतर व निम्न आत्म-शक्ति' का युगल-सिद्धांत सृष्टि में अभिव्यक्त सापेक्षिक अस्तित्व का मूलभूत नियम है। स्थूलतम से श्रेष्ठतर व उच्चतर आत्मिक अवस्थाओं तक जीवन के विकासक्रम,

तथा इससे भी आगे, स्वयंभू सत्ता की अनन्त कृपा एवं परम दयालुता के अनुभव के लिये यह ध्रुवीकरण आवश्यक है। उच्चतर और निम्न के इस ध्रुवीकरण के बिना, परिपूर्ण सत्ता के स्वरूप का अनुभव प्राप्त नहीं किया जा सकता और व्यक्तित्वरहित परम्सत्ता की अनुभूति नहीं की जा सकती।

वास्तव में अपनी आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ माने। आत्म-प्रकाशित व्यक्ति दूसरों को आत्म-ज्योति प्रदान करे। अतः हे सर्वज्ञ मज़दा, आप अपने आप को सर्वाधिक कृपापात्र आत्मा के द्वारा ही प्रकट करें और दिव्य मन के आनन्दपूर्ण ज्ञान को अपने सर्वव्यापी सत् द्वारा ही प्रदान करें।

– गाथा उस्तावैति (21:43:2)

वेनिदाद में सर्वमहान अहुरा-मज़दा हमें इस प्रकार विश्वास दिलाता है :

वास्तव में, मैं दो विरोधी आत्म-स्वरूपों को, उस महामानव के, जो सर्वश्रेष्ठ, परिपूर्ण अस्तित्व से मिलने जा रहा है, विरुद्ध खड़ा होने की अनुमति नहीं दूंगा। ऐसे व्यक्ति की सूरज, चाँद व सितारे प्रशंसा करते हैं। मैं सृष्टा, अहुरा-मज़दा उसकी प्रशंसा करता हूँ। तुम्हें शांति व आनन्द प्राप्त हो। हे महामानव! तुम नाशवान स्थान से अनश्वर मंडल में आ चुके हो।

10. योग तथा बाह्य विज्ञान

इस *प्रकार योग के विविध प्रकारों का वर्णन करने के बाद, अब हम निष्कर्षतः आदि शंकराचार्य द्वारा दी गई चेतावनी को अपने आप को स्मरण करा लेना चाहिए :*

तीनों प्रकार के मार्ग : सांसारिक मार्ग, इच्छाओं का मार्ग और धर्मग्रन्थों का मार्ग, यह सभी सत्य का ज्ञान प्रदान करने की अपेक्षा, व्यक्ति को ब्रह्मांड के कारागृह में हमेशा के लिये क़ैद रखते हैं। मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जबकि व्यक्ति अपने आप को इस लोहे की ज़ंजीर से मुक्त करा लेता है।

व्यक्तिगत आत्मा जब तक ब्रह्मांडीय आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करके तद्रूपता का अनुभव न कर ले, तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसकी प्राप्ति न तो योग से, न

सांख्य से, न ही धार्मिक कर्म-कांड के अभ्यास से या फिर न तो केवल शिक्षा ग्रहण करने से हो सकती है।

– आदि शंकराचार्य

शंकर के संदेश को ताज़ा करते हुए कि यह सच्चा ज्ञान सीधे अनुभव का विषय है, मात्र रीति-रिवाज़, कर्मकांड या बुद्धि की वस्तु नहीं, और हम जोड़ दें, कि यह सांसारिक बाह्य विज्ञानों से भी नहीं पाया जा सकता। आधुनिक भौतिक विज्ञानों की खोजें वास्तव में दर्शनीय हैं और उन्होंने यौगिक-प्रणालियों द्वारा ब्रह्मांड और अस्तिव के प्रकृति के विषय में अनेक स्थापित विचारों की पुष्टि की है। निस्सन्देह, उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि संसार में प्रत्येक वस्तु सापेक्षिक है तथा सभी रूप मूलतः सकारात्मक और नकारात्मक शक्तियों के संयोग से ही अस्तित्व में आते हैं। इन खोजों से कुछ लोगों ने यह कल्पना करना शुरू कर दिया है कि भौतिक विज्ञान हमें उसी ज्ञान की ओर ले जा सकता है और ले जायेगा, जिनको योगिजन प्राचीन समय में योग द्वारा प्राप्त करते थे तथा विज्ञान योग का स्थान ले लेगा और इसे अप्रासंगिक बना देगा।

एक अंधा आदमी भले ही सूर्य को देख न सके, किन्तु उसकी गर्मी और ऊष्णता का अनुभव तो कर ही सकता है। किसी वस्तु, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव वह भले ही न कर पाये, उसकी प्रकृति को जानने के लिये वह अनेक प्रयोग कर सकता है। इन प्रयोगों से उसे ढेर सारी महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिल सकती हैं। वह एक आम आदमी से कहीं ज़्यादा भली प्रकार, वह सूरज की गति, ऋतु-परिवर्तन व उसकी गर्मी की बदलती तीव्रता को अंकित कर सकता है। परन्तु, क्या ये सारा ज्ञान, जो उसने एकत्रित किया है, क्षण भर के सूर्य दर्शन के सीधे अनुभव का स्थान ले सकता है?

जैसा फ़र्क अंधे आदमी और साधारण दृष्टि वाले आदमी में होता है, वैसा ही योगी और वैज्ञानिक में भी है। भौतिक विज्ञान हमें सृष्टि और उसकी प्रकृति के बारे में काफ़ी बेशक़ीमती अप्रत्यक्ष जानकारी दे सकता है, परन्तु यह ज्ञान सीधे अनुभूत-ज्ञान का स्थान नहीं ले सकता, क्योंकि अंधे व्यक्ति का निष्कर्षपूर्वक ज्ञान, उसे सूर्य के प्रमुख गुण– ज्योति का साक्षात्कार नहीं करा सकता। इसी प्रकार वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में

सृष्टि की ऊर्जा के मुख्य गुण– चेतनता को प्राप्त नहीं कर सकता। वह ब्रह्मांड के बारे में बहुत कुछ जान सकता है, लेकिन उसकी जानकारी उसे ब्रह्मांडीय चेतनता तक नहीं ले जा सकती। यह चेतनता केवल आंतरिक विज्ञान के द्वारा ही पाई जा सकती है, जिसे कि योग कहते हैं, जिसके द्वारा आंतरिक दृष्टि खोलकर ब्रह्मांडी वास्तविकता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जा सकता है। जिसकी आंतरिक दृष्टि खोली जा चुकी है, उसे अब आध्यात्मिक किंवदंती, क़िस्से-कहानियों, गुरु के दावों या दार्शनिक व वैज्ञानिक तर्क-वितर्कों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं होती है। वह स्वयं ही परमात्मा को देखता है और यही सभी प्रमाणों से श्रेष्ठ है। वह ईसा मसीह के साथ कह सकता है, "परमात्मा को प्रत्यक्ष रूप से देखो" ('Behold the Lord!') या गुरु नानक देव जी के साथ कह सकता है, "नानक का पातशाह दिस्से ज़ाहिरा" (नानक का परमात्मा सब जगह नज़र आता है) या फिर रामकृष्ण परमहंस के साथ कह सकता है, "मैं उसे देखता हूँ, जैसे कि मैं तुम्हें देख रहा हूँ, बल्कि उससे भी ज़्यादा तीव्रता के साथ" (जैसा कि उन्होंने नरेन {विवेकानंद का पूर्व नाम} से उनकी प्रथम भेंट में, उनके इस प्रश्न के उत्तर में कहा था– "गुरुदेव, क्या आपने ईश्वर को देखा है?")

चतुर्थ अध्याय

अद्वैतवाद

ब्रह्म के समान योग भी कालातीत है। प्रत्येक नये कालचक्र के साथ जब मानव सर्वव्यापी सत्ता से अवगत होता है, तो वह उसकी अनुभूति के साधन खोजने का प्रयत्न करता है। जैसा हमें बताया गया है, सृष्टि के आदि में भगवान हिरण्यगर्भ ने ऋषियों को योग अथवा परा-विद्या की शिक्षा प्रदान की। परन्तु, यह उनके उत्तराधिकारी गौड़पादाचार्य तथा पतजंलि थे, जिन्होंने इसे एक नियमित पद्धति का रूप दिया। जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, प्रत्येक सच्चा योग द्वैत के पूर्वकल्पना से आरंभ होकर अद्वैत भाव में समाप्त होता है। इसलिये इसमें आश्चर्य नहीं कि परा-विज्ञान के बहुत से विद्यार्थी इस विरोधाभास के शिकार हुए हों। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इस संभ्रम की अवस्था ने विवाद का रूप ले लिया और अर्ध-सत्य को ग़लती से पूर्ण-सत्य मान लिया गया। ऐसे समय में दक्षिण भारत के विलक्षण प्रतिभाशाली आदि-शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन का प्रचार-प्रसार किया।

आदि-शंकराचार्य विवेचन, तर्क एवं अंतर्दृष्टि की आश्चर्यजनक प्रतिभा के धनी तथा जो गहराई, सूक्ष्मता तथा दृष्टि की अनुकूलता, उनके लेखों में प्राप्त होती है, वह बहुत ही कम व्यक्तियों में पाई जाती रही है। उन्होंने पूर्ववर्ती सभी महान ग्रन्थों का स्पष्ट अर्थ बताया, उन सभी के सारांश की समानता को प्रस्थापित किया। उन्होंने यह दर्शाया कि सत्य एक ही है, और अंतिम निष्कर्ष में, यह किसी भी अनेकत्ववाद या द्वैतवाद को स्वीकृत नहीं करता। एक व्यक्तिगत जीव, स्वयं को ब्रह्म से पृथक् मानकर प्रारम्भ कर सकता है, परन्तु, जब वह अनुभव की पूर्णता प्राप्त कर लेता है, तो वह सर्वव्यापी परा-शक्ति के साथ अपने एकत्व का अनुभव कर लेगा। अंतीन्द्रिय बौद्धिक क्षमता से युक्त उन्होंने भारतीय विचारधारा के उन विरोधाभासों को, जो इसके मुक्त विकास में रुकावट बन रहे थे, समाप्त कर दिया। अब हम उनकी शिक्षा के कुछ मूलभूत सिद्धांतों का परीक्षण करेंगे।

आत्मा- चैतन्य जीवन का आधार

आदि-शंकराचार्य ने किसी एक व्यक्तिगत चेतनता के आनुभविक जीवन को कुछ और नहीं, बल्कि एक जागृत स्वप्न मात्र माना, जोकि अन्य स्वप्नों की भांति एक अवास्तविक वस्तु ही है। इसकी असत्यता तब पता लगती है, जब व्यक्ति सीमित चेतना से चलकर ब्रह्मांडीय चेतनता में पहुँचता है या फिर शारीरिक चेतना की सापेक्षिक प्रकृति का ध्यान करता है, जो 'जागृत' से 'स्वप्न' तथा स्वप्न से 'सुषुप्ति' की अवस्था में विभिन्नता प्राप्त करती है। यदि सांसारिक अनुभव-सापेक्षिक है, तो इसकी सच्चाई का आधार कहाँ है? शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित उत्तर यह है कि इसे विचारशील मन में पाया जा सकता है, जोकि आत्मा की ज्योति की ही प्रतिच्छाया है– वह आत्मा, जो स्वयं अमर, अपरिवर्तनीय, परिपूर्ण और वास्तविक दृष्टा (साक्षी) है।

कारणता का नियम, ज्ञान की मात्र एक अवस्था है। जब तक हम कारण और प्रभाव की सीमा के अंतर्गत कार्य करते हैं, तब तक पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं। जिस क्षण हम उन सीमाओं से ऊपर उठ जाते हैं, सभी पदार्थ वायवीय शून्य में विलीन हो जाते है। सत्य की वास्तविक प्रकृति में कारणता के लिये कोई स्थान नहीं है, क्योंकि कारणीय व्याख्यायें सदा ही अपूर्ण होती हैं और अंत में कहीं भी किसी परिणाम पर नहीं पहुँचा पाती। क्षणभंगुर पानी के बुलबुलों की भांति, जोकि पानी के तल पर उभरते और अगले ही क्षण नष्ट होकर फिर पानी में ही विलीन हो जाते हैं, सांसारिक पदार्थ भी असत् हैं और क्षणभंगुर हैं। पूरे परिदृश्य में केवल पानी ही वास्तविक अध:स्तर के रूप में शेष रहता है। ठीक इसी प्रकार, 'सत्' समस्त दृष्यप्रपंच में क़ायम रहते हुए उसके परे है तथा काल, देश व कारण के सम्बंधों से स्वतंत्र है। समस्त सृष्टि मनुष्य के मन में निहित है, तथा चेतन मन की गति से ही दृश्यमान, दृष्टा व दृश्य के बीच अन्तर उत्पन्न होता है, ऐसा अन्तर– जोकि वास्तव में है ही नहीं, क्योंकि सभी वस्तुयें एकत्व के विशाल सागर का हिस्सा हैं। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञातव्य, और ज्ञान का अन्तर नहीं रहता, क्योंकि यह सभी सापेक्षिक शब्द है, जिनका निर्णायिक सत्य नहीं। इसी प्रकार, मनुष्य के अनुभव की तीन अवस्थायें– यथा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति भी असत्य ही हैं, क्योंकि इसमें से कोई भी चिरस्थाई नहीं, बल्कि

जब मन एक से दूसरी अवस्था में जाता है, तो ये अवस्थायें भी उसी के अनुसार बदलती रहती हैं। उन अवस्थाओं में से प्रत्येक का प्रारम्भ और अंत होता है, और प्रत्येक अवस्था अन्य अवस्थाओं के अभाव में ही क़ायम रहती है। 'सापेक्षिकता' शब्द स्वयं ही अपने विपरीत शब्द, 'वास्तविकता' का द्योतक है। सत्य इन तीनों अवस्थाओं से परे आत्मा है, जोकि इन सभी अवस्थाओं का आधार है। इसे साक्षी कहते हैं, जोकि अकेला है तथा सर्वदा परिवर्तशील जीवन के दृश्य-पटल के पीछे, निरन्तर अस्तित्व में रहता है। यह सदा ही अजन्मा, सर्वदा जागृत, स्वप्नरहित, स्वःप्रकाशवान् तथा अपने स्वभाव से ही शुद्ध चैतन्य है और निद्रा की अचेतन अवस्था से पृथक् है।

सृष्टि की प्रकृति

वास्तव में सृष्टि का अस्तित्व है ही नहीं। वास्तविक तथा सत्य सदा एकरस है, परिवर्तनीय नहीं। जिस प्रकार असीम को सीमित नहीं किया जा सकता, अप्रतिबंधित को भी प्रतिबंधित नहीं किया जा सकता। जो कुछ भी है, सभी ब्रह्म है और परिपूर्ण एकत्व से पृथक् कुछ भी नहीं है। यह स्वयं को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है, जो इसकी शक्ति की अभिव्यंजना है। परन्तु, यदि हम उन्हें अनेकत्व या द्वैत तथा सीमित रूपों में देखें, तो ऐसे लक्षण उस परिपूर्ण एकत्व में नहीं हैं, परन्तु हमारी अपनी दृष्टि ही दैनिक, मानव-चेतना के संकीर्ण दायरे की सीमितता के कारण हैं। जो अविद्या से विद्या में पहुँचता है, अज्ञान से ज्ञान में प्रवेश करता है, वह जानता है कि यह सापेक्षिक संसार मात्र माया या भ्रम ही है और वह सभी पदार्थों में उस परिपूर्ण को ही देखता है, जैसे जो बर्फ़ की सच्ची प्रकृति को जानता है, वह उसे पानी के ही एक अन्य रूप में देखता है। उस परिपूर्ण की शक्ति, जिसे प्रचलित रूप में ईश्वर और सृष्टा कहते हैं, समस्त चेतना का मूल कारण है। अनेकत्व या द्वैत का संसार केवल माया है (माया वह यंत्र है, जोकि बुद्धि के स्तर पर वस्तुओं को नापने-तोलने का काम करता है), जबकि जो 'सत्' है, वह अद्वैत है और इसलिये माप रहित है– उसे मापा नहीं जा सकता। प्रसिद्ध उपमा का प्रयोग करें, तो "आत्मा में विभिन्नता उसी प्रकार से प्रतीत होती है, जैसे कि रस्सी में साँप अथवा वृक्ष के तने में प्रेत।" जिस प्रकार कोई व्यावहारिक अनुभव

न तो आत्मा से एकीकृत है और न ही यह आत्मा से पृथक् कोई स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, उसी प्रकार संसार न तो आत्मा से एकीकृत है और न ही इससे पृथक्।

आत्मा एकल एवं सर्वव्यापी, अवस्थारहित एवं आकाशवत् सीमारहित है, परन्तु जब यह मन और प्रकृति द्वारा अवस्थित हो जाती है, तो घड़े में बद्ध आकाश अर्थात् 'घटाकाश' के रूप में दिखाई देती है, और घट रूपी शरीर के नष्ट होने पर पुनः ब्रह्मांडीय आकाश में समा जाती है। अतः सभी भेद केवल नाम, रूप और सामर्थ्य के हैं। जीव और आत्मा एक है और एक ही तत्व के हैं। कबीर साहब कहते हैं :

कहु कबीर इहु राम की अंसु॥

– आदि ग्रंथ (गोंड कबीर, पृ॰871)

मुस्लिम सूफ़ी फ़कीर इस रूह (आत्मा) को 'अम्र-ए-रब्बी' (परमात्मा का भाणा) कहते हैं। जबकि जीवात्मा भौतिक, मानसिक तथा कारण के सीमित विशेषणों से प्रतिबंधित होती है, जीवात्मा अथवा विदेह आत्मा, इनसे मुक्त, असीम और अप्रतिबंधित होती है।

निज-आत्मा अथवा आत्मन्

सत्य का आधार आत्म-निश्चितता में निहित है। निज संसार में अन्य प्रत्येक वस्तु से पहले आता है। यह चेतनता की धारा व सत्य व असत्य तथा सच्चाई और भ्रम के सभी सिद्धांतों, और अन्य सभी भौतिक नैतिक और तत्वमीमांसिक (metaphysical) *मान्यताओं से भी पहले आती है। चेतनता, ज्ञान, विवेक व बोध में 'आत्म-तत्व' नामक एक प्रकार की ऊर्जा की परिकल्पना की जाती है, जिसके वश में ये सभी साधन हैं और वास्तव में ये सब उसी में से प्रवाहित होते हैं। समस्त शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ– प्राण-वायु भी, तथा सभी सांसारिक अनुभव स्वःप्रकाशित आत्मा की प्रदीप्त ज्योति के प्रकाश में ही प्रकट होते हैं। इन सभी का एक उद्देश्य और लक्ष्य होता है, जो उन स्वयं से बहुत गहराई में स्थित होता है और वही हर प्रकार के भौतिक, मानसिक और परा-मानसिक क्रिया-कलापों का आधार-केन्द्र होता है। किन्तु, ये सभी, आत्मा की वास्तविक प्रकृति को ग्रहण करने में असफल होते हैं, क्योंकि ये सभी स्वयं निरन्तर प्रवाह की अवस्था*

में होते हैं। आत्मा, सभी प्रमाणों का आधार होने के नाते तथा प्रमाण से भी पहले विद्यमान होने के नाते, प्रमाणित नहीं की जा सकती। ज्ञाता को कैसे और किसके द्वारा जाना जा सकता है? आत्मा, वास्तव में सभी की– नास्तिकों तक की भी– अनिवार्य-प्रकृति है। इस प्रकार यह आत्मा, शाश्वत, अपरिवर्तनीय व परिपूर्ण है तथा सभी अवस्थाओं और सभी स्थितियों में, सभी समयों में, अपने साररूप में सदैव एक समान है।

निज की प्रकृति

यद्यपि हम जानते हैं कि आत्मा अस्तित्व में है, तदापि हम यह नहीं जानते कि यह क्या है, क्योंकि ज्ञान स्वयं ही आत्मा का अनुगमन करता है, और आत्मा के कारण तथा उसी के द्वारा ही विद्यमान है। आत्मा की सच्ची प्रकृति को स्वयं आत्मा ही जान सकती है, यदि इसे इन्द्रियों, मन, बुद्धि और इच्छाशक्ति के आवरणों से मुक्त कर दिया जाये, जिनसे यह उढ़ी हुई व आवृत्त है। इसके बाद जो शेष रहता है, उसे अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे, 'अविछिन्न चेतनता', 'अविनाशी-ज्ञान', 'विशद्ध-चेतना', तथा इसे 'महान-शून्य की ज्योति' ('Light of the Great Void') के रूप में चित्रित किया जाता है। यह सर्वोत्कृष्ट तत्व है, जिसकी अनिवार्य प्रकृति स्वयं-ज्योति है। यह असीम, अनुभवातीत तथा परम्-ज्ञान का सार-तत्व है। इसके तीन लक्षण हैं : 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' अर्थात् विशुद्ध अस्तित्व, विशुद्ध ज्ञान तथा विशुद्ध आनन्द। निजात्मा, क्योंकि यह अपने आप में तथा अपने आप से परिपूर्ण है, इसकी अपनी कोई क्रिया नहीं है, और न ही उसे इसकी कोई आवश्यकता है, तथा न ही उसे किसी बाह्य माध्यम की आवश्यकता है। सर्वव्यापी तथा अपने अस्तित्व में स्वयं-स्थित होने के नाते, इसकी न कोई सीमा है, न ही कोई प्रयोजन।

व्यक्तिगत ज्ञान एवं चेतनता

यद्यपि अंतिम सत्य अद्वैत आत्मा ही है, तदापि परिमित ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव निम्नलिखित के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है :

क. *ज्ञाता अथवा कर्ता, जो ज्ञात करता है, जोकि इन्द्रियों के पीछे के आंतरिक अंग तथा ज्ञात विषय से पृथक् है। ज्ञाता मन केवल एक परावर्ती*

दर्पण के समान है, जो आत्मा की ज्योति को परावर्तित करता है, जिसमें ज्ञान विकसित होता है।

ख. *ज्ञान की प्रक्रिया, जो आंतरिक अंग में होने वाले परिवर्तनों अर्थात् वृत्तियों से निर्धारित होती है। ये वृत्तियाँ चेतनता की धारा में तरंगें एवं बुलबुले पैदा करती हैं। वृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं : मनस् (indeterminate or mind-stuff), बुद्धि (determinate or intelligent will), अहंकार (self-sense or self-assertive ego) और चित्त (subconscious or the deep and hidden potencies).*

ग. *आत्मा की ज्योति में आंतरिक अंग अंत:करण (internal organ) के द्वारा प्रतिबिम्बित रूप में ज्ञात विषय।*

ज्ञान तथा उसके स्रोत

ज्ञान दो प्रकार का है– अंतिम व परिपूर्ण तथा प्रयोगाश्रित व सापेक्षिक। ज्ञान, अपने अंतिम सत्य में, अस्तित्व की एक अवस्था है और कभी बढ़ता नहीं है। यह पहले से ही स्थित है और आत्मा की ज्योति द्वारा प्रकाश में आता है, जोकि एक ही समय में ज्ञाता एवं ज्ञातव्य– दोनों से ही अतीत हो जाता है, जिसके परे अन्य कुछ नहीं है।

सत्य ज्ञान विशुद्ध रूप से आत्मा का एक कर्म है और अपने स्वयं में परिपूर्ण तथा इन्द्रियों और इन्द्रियांगों से स्वतंत्र है। प्रोफ़ेसर जे. एम. मर्रे (Prof. J. M. Murray) कहते हैं, "एक सर्वज्ञातव्य मन अस्तित्व की सम्पूर्णता को शाश्वत रूप में ग्रहण करता है। ज्यों ही हम अस्तित्व के मंडल में प्रवेश पाते हैं, हमें सम्पूर्ण दृष्टि प्राप्त हो जाती है।" आदि-शंकराचार्य के अनुसार, "सर्वोच्च ज्ञान स्वयं सत्य का ही प्रत्यक्ष साक्षी है," क्योंकि उस अवस्था में ज्ञाता और ज्ञातव्य दोनों मिलकर एक ही सत्य हो जाते हैं। परन्तु, वास्तविक आत्मा, जोकि विशुद्ध चैतन्य है, स्वयं ज्ञान की वस्तु नहीं हो सकती।

बाह्य संसार का प्रयोगाश्रित ज्ञान पशुओं के ज्ञान के समान ही होता है। यह विषय-इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, और इसलिये विभिन्न रूपों व प्रकारों में होता है, जिनका अस्तित्व केवल उनकी सत्य ज्ञान से अनुपस्थिति में ही होता है। परन्तु, जब तक उसकी अनुभूति न हो सके,

कुछ भी सत्य नहीं हो सकता। एक लोकोक्ति भी यदि वास्तविक जीवन व अनुभव में अनुभूत न हो, तो वह लोकोक्ति नहीं हो सकती।

समस्त प्रयोगाश्रित ज्ञान या तो अनुभूति से या ग्रन्थों द्वारा व्यक्त किया जाता है। मानव अनुभूति को कभी सत्य, सम्पूर्ण और सही नहीं माना गया है। व्यक्ति रस्सी में सर्प तथा वृक्ष के तने में प्रेत का भ्रम कर सकता है। प्रायः पदार्थ जैसे दिखते हैं, वैसे नहीं होते। वस्तुओं के रंग, जो हमें दिखते हैं, वे वह हैं, जोकि उनके द्वारा ग्रहण नहीं किए जाने पर परावर्तित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार गुलाब की लालिमा, गुलाब का अंग नहीं, परन्तु उससे पराई है। पुनश्चः, अनुमान द्वारा निर्णय तथा धर्मग्रन्थों के उद्धरण स्वयं में अकाट्य नहीं हैं। अनुमान का स्रोत पूर्व अनुभव है, जोकि स्वयं संदिग्ध है, और यदि ऐसा न भी हो, तो हो सकता है कि वर्तमान की अवस्थायें भूतकाल में ग्रहीत ज्ञान के साथ पूरी तरह मेल न खायें। अंतर्ज्ञान (intuition) की अवस्था भी ऐसी ही है, जोकि अंतर्मन (subconscious) में निहित सभी अनुभवों का संयोग है। किसी दूरस्थ पहाड़ी पर धुंधला बादल आग को सूचित कर सकता है, अथवा वह धुंध की एक चादर भी हो सकता है। उसी प्रकार ग्रंथों के साक्ष्य, अकाट्य तथा ज्ञान का निश्चित स्रोत माने जाने पर भी, सदा ही ऐसे नहीं माने जा सकते। वेद भी, जोकि दिव्य-ज्ञान का भंडार हैं, समय के चक्र के साथ प्रकट व लुप्त हो जाते हैं। उन्हें ब्रह्मांडीय और आदर्श ज्ञान का अक्षुण्ण भंडार माना जाता है। परन्तु, 'ज्ञान' शब्द से तात्पर्य आध्यात्मिक अनुभवों के, जोकि अतीन्द्रीय मंडलों में प्राप्त होते हैं, कोष से है। जिस क्षण इस प्रकार से प्राप्त अनुभव मानव की भाषा में अनूदित किए जाते हैं, और लिपिबद्ध किए जाने पर वे रूप और पद्धति ग्रहण कर लेते हैं, और जिस क्षण वे रूप व पद्धति ग्रहण करते हैं, वे अपनी ताज़गी और सजीवता तथा असीम अस्तित्व के गुणों को खो देते हैं। जिसे सीमित या परिभाषित नहीं किया जा सकता, उसे परिभाषित तथा सीमित समझा जाने लगता है, और जीवन्त ज्ञान देने के बजाय, ग्रन्थ केवल धूमिल सामान्यार्थ देने के कारण, लोगों को सत्य से दूर करने लगते हैं। अधिकाधिक वे सत्य को इंगित कर सकते हैं, परन्तु उसका साक्षात्कार कभी नहीं दे सकते। उनमें इंगित ब्रह्मांडीय सिद्धांत, विचारधारा मात्र बनकर रह जाते हैं, क्योंकि वे न तो प्राप्त किए जा सकते

है, न ही अनुमानित किए जा सकते है और न ही सही प्रकार से बताये जा सकते हैं। वे तभी अर्थ ग्रहण करना प्रारम्भ करते हैं, जब व्यक्ति भौतिक मंडल से ऊपर उठना सीखता है और सत्य का अनुभव स्वयं करता है।

उपरोक्त से यह सुनिश्चित निष्कर्ष निकलता है, 'देखना' अर्थात् प्रत्यक्ष और तत्काल अनुभव प्राप्त करना सभी प्रमाणों और साक्ष्यों से ऊपर है। यह, विशुद्ध आत्मा की ज्योति में देखना है, जोकि तत्सम्बंधिता (correlativity) की छायामात्र से भी स्वतंत्र है। यह कुछ और नहीं, बल्कि आत्मा का प्रत्यक्ष और अभिन्न अनुभव है। 'श्रुति' अथवा व्यक्त ग्रंथ, बिना प्रथम निजी अनुभव के, मात्र अर्थहीन ध्वनि ही है। विचार की सभी उड़ानें, कल्पना या समस्त प्रयोगाश्रित ज्ञान, सभी अपूर्ण हैं तथा सत्य और वास्तविक ज्ञान के नज़दीक भी नहीं पहुँच सकती हैं। 'अनुभव' ही वास्तविक और परम ज्ञान है तथा परम का ज्ञान है। यह आत्मा का स्वःप्रमाणित अनुभव है, जोकि श्रुतियों में वर्णित ऋषि-मुनियों के आध्यात्मिक अनुभवों को प्रमाणित करता है।

ब्रह्म की प्रकृति

जैसेकि 'असत्य' शब्द से 'सत्य', जो बुद्धिमत्ता और कल्पना का आधार है, इंगित होता है, वैसे ही सीमित के विचार से ही असीमित का अस्तित्व सूचित होता है। पुनश्चः हमारे पास धर्मग्रन्थों में वर्णित अत्यधिक प्रमाण हैं, जो सभी कालों और स्थानों में ऋषियों-मुनियों के धार्मिक अनुभवों के बारे में बताते हैं।

ब्रह्म की प्रकृति को शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। यह सभी अस्तित्व का मूल आधार है। यह सर्वत्र फैला हुआ है, और तत्समय, किसी वस्तु विशेष के सापेक्ष में, कहीं भी नहीं है। यह एक ही समय में अस्तित्व और अन-अस्तित्व का विरोधाभास है। इस समस्या को दो प्रकार से देखा जा सकता है : नकारात्मक और सकारात्मक तरीके से। परमात्मा का एक तो अकथनीय परिपूर्ण रूप है, तथा दूसरे, उसका वह रूप जिससे वह सृष्टि रचता है, कार्य करता है, जो आदि-कारण है, जिसे 'लोगोस' (Logos) या 'पवित्र-आत्मा' (Holy Spirit), 'कलमा' या 'बांगे-इलाही', 'नाद' या 'उद्गीथ', 'नाम' या 'शब्द' कहा जाता है। यह दूसरा जीवन-सिद्धांत

('नाम') परमात्मा की शक्ति को इंगित करता है, जो सर्वव्यापी है और सब से ऊँचे से लेकर सब से नीचे तक, सृष्टि में प्रत्येक स्थान पर धड़कता है। यह सृष्टि के लिये आनिवार्य उपादाय तथा दक्ष कारण- दोनों ही है। यह 'सत्' तत्व है और प्रभु की सुरत– एकंकार (God-in-Action) है। प्रभु की इस सत्ता के बारे में गॉस्पेल्स (Gospels) में हमें बताया गया है कि,

अंधेरे में ज्योति चमकती है और अंधकार उसे जानता ही नहीं।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 1:5)

यह ब्रह्म (ईश्वर) या प्रभुत्व की सत्ता, ब्रह्म और सृष्टि के बीच में माध्यम है और दोनों के ही स्वभाव को ग्रहण करती है। परन्तु, उसका एकत्व उसके "एको अहं बहुस्याम"– "मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ," के संकल्प द्वारा अनेकत्व में अभिव्यक्ति के द्वारा प्रभावित नहीं होता है। दोनों ही सत्य और उसके प्राकट्य के रूप में विद्यमान रहते हैं, और उनमें भेद केवल मनुष्य की सीमित दृष्टि के कारण पैदा होता है।

संक्षेप में, परम-सत्य ही विश्व का, जैसा हम इसे जानते हैं, उसकी बात करते हैं और देखते हैं, आधार है। एकता में अनेकता या विभिन्नता ग़लत नज़रिये का परिणाम है। संसार असत् है, परन्तु व्यक्तिपरक भ्रम नहीं है। परिपूर्ण प्रभुसत्ता विश्व में अंतर्निहित है, परन्तु यह विश्व सत्य नहीं है, क्योंकि छाया किसी पदार्थ का स्थान नहीं ले सकती। सत्य पर आधारित कोई भी वस्तु स्वयं 'सत्' नहीं हो सकती। संसार प्रतिभासिक सत्य तो है, परन्तु यह स्वयं तत्वरूप से सत्य, अथवा इसके केन्द्र में निहित केन्द्राभिमुखी शक्ति, नहीं है।

एक व्यक्ति स्वयं अपने आप में एक सम्मिश्रण होता है– प्रिय-अप्रिय का, पूर्वाग्रह-पूर्वाक्षेप का, उद्देश्य-परियोजनाओं का, स्मृतियों-सम्बंधों का। प्रतिबंधित जीवात्मा वास्तव में निर्बाध आत्मा ही है। अनुभवजन्य जीवात्मा अथवा व्यक्तिगत बोध, स्वयं के वास्तविक स्वभाव के अज्ञान के कारण ही, आत्मा की विशुद्ध ज्योति के अंतर्गत, जिसका इसे कोई ज्ञान या अनुभव नहीं है, सक्रिय कर्त्ता बनकर सुख-दुख भोगती है।

पंच-तत्वों (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश) से निर्मित स्थूल शरीर के अन्दर सत्रह तत्वों– पाँच ज्ञानेन्द्रियों– नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा व त्वचा तथा पाँच कर्मेन्द्रियों– देखने, सुनने, सूंघने, छूने व स्वाद लेने की, पाँच प्राण (मन व बुद्धि) से युक्त सूक्ष्म शरीर, तथा कारण या बीज शरीर स्थित होता है। जीवात्मा जीवन के महाचक्र में एक शरीर से दूसरे शरीर में यात्रा करते हुए कर्मों के अटल नियम का अनुसरण करती है। ये सीमितकारी अनुबद्धतायें (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) आत्मा को जीव (व्यक्तिगत चेतना) के स्तर तक घटा देती हैं और इस प्रकार जीव का भाग्य निर्धारित करते हुए इसे अंतहीन चक्र में भटकाती रहती हैं। जीव के केन्द्र में दृष्टा– साक्षी आत्मा है, जोकि केवल देखती रहती है और पूरे रंगमंच पर ज्योति फैलाती रहती है, और अहंकार, मन, इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों को प्रदीप्त करते हुए, वह रंगमंच के हट जाने के पश्चात भी स्वयं की ज्योति में जगमगाती रहती है। इस रजत-पटल की आभा के पृष्ठ में ही सारा प्रदर्शन होता है।

जिस अवस्था में आत्मा अपने आप को सही रूप में पहचान ले और यह अनुभव कर ले कि वह कोई और नहीं, बल्कि स्वयं ब्रह्म ही है, उस अवस्था की प्राप्ति ही अद्वैतवाद का उद्देश्य है। यह अवस्था साक्षात् अनुभव की अवस्था है, और जैसा आदि-शंकराचार्य ने स्पष्ट किया है, यह मात्र तर्क-वितर्क, धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन या कर्म-कांडों के अनुष्ठान करने से प्राप्त नहीं की जा सकती। यह केवल योग के अभ्यास से ही प्राप्त की जा सकती है, और यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि अद्वैतवाद स्वयं में योग नहीं है, परन्तु स्पष्ट रूप से, यह सूक्ष्मता तथा परिपूर्णता से योग के दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। जैसा कि उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया है, शंकर ने कोई नई बात नहीं बताई। जो कुछ गीता व उपनिषदों में पहले से ही व्यक्त किया गया था, उन्होंने उसी को पुनःस्थापित करने का कार्य किया। असाधारण बुद्धि और आश्चर्यजनक तर्कदृष्टि के धनी होने के नाते, उन्होंने श्रुतियों के ज्ञान को, जोकि आने वाले समय में अनावश्यक रूप से उलझ कर विवादग्रस्त हो गये थे, सुसंगत व नियमबद्ध करने का कार्य किया। पुनः उन्होंने निर्णायक रूप से यह दर्शाया कि ब्रह्म का कोई भी मार्ग, जो अनेकांतवाद और अद्वैत 'सत्' की शिक्षा नहीं देता, वास्तव

में अतर्कसंगत है, तथा यौगिक विचारों का तर्कसंगत निष्कर्ष अद्वैतवाद में ही निहित है। इस दृष्टिकोण में यह विचार निहित है कि समाधि की सभी अवस्थाओं में, निर्विकल्प समाधि, जिसमें व्यक्तिगत आत्मा अपनी पहचान खो कर ब्रह्म में विलीन हो जाती है, सर्वोच्च है। यह अवस्था अभी और यहीं पर ही प्राप्त की जा सकती है और इसी जीवन में ही जीवन-मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। जो व्यक्ति प्रकृति के दृश्य-प्रपंच की पृष्ठभूमि में निहित परम्-तत्व को ज्ञात कर चुका है, वह पुनः दिखावट के भ्रमजाल में फँस नहीं सकता। वह एक मुक्तात्मा होता है और सच्चे ज्ञान के प्रकाश में जीता है। पिछले कर्मों के वजह से उसका भौतिक अस्तित्व भले ही कुछ समय आगे तक क़ायम रहे, परन्तु एक बार यह समाप्त हो जाये, तो उसके पश्चात् वह ब्रह्म अर्थात् शुद्ध बोध में पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाता है।

आदि-शंकराचार्य वास्तव में एक विशिष्ट विद्वान एवं अंतर्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति थे और भारतीय विचारधारा में उनका योगदान चिरस्थायी है। उन्होंने इसे तर्कसंगत निष्कर्ष तक पहुँचाते हुए, इसको स्पष्टता, स्थिरता और ज्योतिर्मयता प्रदान की। परन्तु, जिस प्रकार रीति-रिवाज़ व धर्मग्रन्थ सीधे आंतरिक अनुभव का स्थान नहीं ले सकते, उसी प्रकार, केवल यह जान लेना कि आत्मा एवं ब्रह्म एक ही हैं, इस एकत्व के वास्तविक आत्मनुभव का स्थान नहीं ले सकता। योग का दर्शन ही अपने आप में योग नहीं है। अधिक से अधिक, वर्तमान भ्रम की अवस्था में से निकाल कर यह हमारी विचारशक्ति को स्पष्ट कर सकता है, अंतिम प्राप्य लक्ष्य को इंगित कर सकता है, परन्तु बाक़ी तो व्यक्तिगत अनुभव का मामला है, जोकि स्वयं योग के व्यावहारिक एवं व्यक्तिगत अभ्यास द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है।